विषय-सूची

१—बुद्धदेव	...	१
२—श्रीशङ्कराचार्य	...	४६
३—श्रीरामानुजाचार्य	...	६१
४—श्रीमध्वाचार्य	...	९५
५—श्रीवल्लभाचार्य	...	९८
६—महाप्रभु श्रीचैतन्य	...	१०२
७—महात्मा तैलङ्ग स्वामी	...	१०८
८—श्रीनारायण स्वामी	...	११६
९—श्रीरामदास स्वामी	...	११८
१०—भास्करानन्द सरस्वती	...	१२२
११—श्रीरङ्गाचार्य जी	...	१३१
१२—परमहंस श्रीरामकृष्ण देव	...	१४६
१३—गुरु नानक	...	१५८
१४—साधु तुकाराम	...	१६७
१५—साधु तुलसीदास जी	...	१७४

आदर्श-महात्मागण

अर्थात्

भारतवर्ष के प्रसिद्ध महात्माओं का
संक्षिप्त जीवन चरित-संग्रह

—:o:—

" यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।"
—श्रीमद्भगवद्गीता-अ० १० श्लो० ४१

संग्रहकर्त्ता
साहित्यभूषण
चतुर्वेदी-द्वारकाप्रसाद शर्म्मा
एम० आर० ए० एस०

प्रकाशक
नेशनल प्रेस—प्रयाग

द्वितीय संस्करण] [मूल्य ॥=)

और कौनसा कर्त्तव्य हो सकता है ? अतएव आपको आज्ञानुसार
यह शरीर जब तक है, तब तक श्रीरङ्गनाथ की परिचर्या और
उनके प्रिय कार्य में नियुक्त रहेगा।" इसके अनन्तर जब श्री-
वैष्णव मण्डली से वेष्ठित यतिराज गरुड़-स्तम्भ के पास विश्रा-
मार्थ बैठे, तब मन्दिर के पूजक, पाचक, ज्योतिर्विद्, भण्डारी,
वाहक, गायक आदि सेवाधिकारियों को बुला कर, उन्होंने उनसे
कहा—"आज से तुम लोग बड़ी सावधानी से अपना अपना
कार्य करना। ऐसा न हो कि भगवान् की सेवा में कहीं कोई त्रुटि
हो।" इस पर सब सेवकों ने एकस्वर से यतिराज के आज्ञा
पालन की प्रतिज्ञा की। तब से बहुत दिनों तक यतिराज श्रीरङ्गनाथ
की सेवा करते रहे।

मंत्र-रहस्य उपदेश

एक दिन पूर्णाचार्य ने यतिराज से कहा—"गोष्ठीपूर्ण नामक
एक विद्वान् श्रीवैष्णव हैं। गुरुदेव श्रीयामुनाचार्य उन्हें मंत्रार्थ
बता गये हैं। अत तुम उनके पास जाकर मंत्रार्थ सीख आओ।"
यतिराज, महात्मा गोष्ठीपूर्ण के पास गये और मंत्रार्थ के उपदेश के
लिये प्रार्थना की; किन्तु गोष्ठीपूर्ण सरल मनुष्य न थे। उन्होंने
यतिराज की परीक्षा करने के लिये नाना प्रकार के आडम्बर
रचे। एक दो बार नहीं, अठारह बार गोष्ठीपूर्ण के पास यतिराज
ने मंत्रार्थोपदेश के लिये प्रार्थना की, किन्तु प्रत्येक बार किसी न
किसी बहाने से गोष्ठीपूर्ण ने उन्हें टाल दिया। अन्तिम बार जब
गोष्ठीपूर्ण ने कहा—'आओ आओ।" तब यतिराज नितान्त क्लान्त
होगये और उनके दोनों नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा बहने लगी।
विवश हो, वे श्रीरंग जी को लौट गये। फिर एक श्रीवैष्णव के मुख

ध्वनि सुन कर, लोग उन्हें शैव समझते थे । कभी "गोविन्द नारा-
यण माधवेति" इत्यादि विष्णु नाम सङ्कीर्त्तन सुन, लोग उन्हें
वैष्णव निश्चय करते थे । तात्पर्य यह कि, कभी कुछ, कभी कुछ ।
आज यदि नीतिगर्भित उपदेश सुन उन्हें राजनैतिक सन्यासी
निश्चय किया है, तो कल ब्रह्मविद्या का उपदेश सुन उन्हें घोर
अद्वैतवादी मानना पड़ा है । कभी वे वर्णाश्रम धर्म के पक्षपाती
और कभी उसके ठीक विपरीत बन जाते थे । कभी लोग उन्हें
श्मशान में हँसते हुए देखते और कभी दीन दुखिया भिक्षुकों के साथ
रोते हुए देखते थे ।

उनके शरीर पर वस्त्र कभी नहीं देखा गया । उनके पास कौपीन
तक न थी । सर्वदा दिगम्बर रहते थे । उन्हें नङ्गे फिरते देख
कई बार पुलिस ने भी उन्हें पकड़ा और मारा भी, पर मार के
घाव शरीर पर होने पर भी उनका चित्त न बिगड़ा । कभी वे
माघ पौष के दुस्सह शीत के समय भागीरथी में दिन भर पड़े
रहते, कभी ज्येष्ठ के दिनों में प्रचण्ड उत्ताप के समय गङ्गा जी
की रेती में आनन्द से शयन करते । भोजन की खोज वे कहीं कभी
नहीं करते थे । यदि कोई स्वयं अपने हाथ से उन्हें भोजन करा
देता या मुँह तक पहुँचा देता, तो उसको खा लिया करते थे ।
भोजन करने का भी कुछ ठिकाना न था । जाति, वर्ण, पात्रापात्र,
खाद्याखाद्य का वे किञ्चित् भी विचार नहीं करते थे । भोजन करने
में भी कुछ परिमाण न था । चाहे उन्हें कोई दिन भर खिलाता रहे
चाहे दिन भर में कोई एक ग्रास भी उनके मुख में न दे । अपने
हाथ से कई लोगों ने इन्हें मन भर तक भोजन कराया है । परीक्षा
के लिये कई दुर्जनों ने सेरों गोमय खिला दिया और पानी में चूना
मिला और नकली दूध बना सेरों पिला दिया, पर उन्होंने तिल
भर भी नाक नहीं सिकोड़ी । प्रथम वे सब के साथ वार्त्तालाप करते,

समर्पण

जिन आचार्य महात्माओं के

पवित्र

एवं शिक्षापूरित जीवन-चरितों

को

लिख कर, यह लेखक अपनी

लेखनी

पवित्र कर सका है ;

यह पुस्तक

उन्हीं आचार्य महात्माओं का स्मारक-

स्वरूप
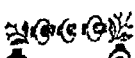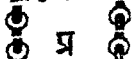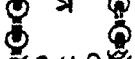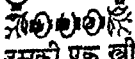
उन आचार्य महात्माओं के शिष्य प्रशिष्यों

के

करकमलों में संग्रहकर्त्ता द्वारा

सादर

समर्पित की जाती है

साधु तुलसीदास जी

प्रयाग से पश्चिम और चित्रकूट से पूर्व की ओर राजापुर नामक एक ग्राम है। इस ग्राम में आत्माराम दुबे नामक एक कान्यकुब्ज[1] ब्राह्मण रहता था। हुलसी नाम्नी परम रूप लावण्यवती उसकी एक स्त्री थी। हुलसी के गर्भ से और भानुदत्त के औरस से दो पुत्र जन्मे। 'श्यामसबल' नामक ग्रन्थ प्रणेता नन्ददास[2] उनके ज्येष्ठ पुत्र और तुलसीदास उनके छोटे पुत्र का नाम था। तुलसीदास जी का जन्म लगभग संवत् १५८९ में हुआ था। तुलसीदास जी जिस समय आठ वर्ष के थे, उस समय उनके माता पिता मर गये। इसके कुछ दिनों बाद वे काशी जी गये और वहां विद्याध्ययन करने लगे। न्यूनाधिक बारह वर्ष तक एक क्रम से विद्याभ्यास कर के, तुलसीदास अपने घर लौट आये। घर लौट कर, उन्होंने दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली के साथ विवाह किया। तुलसीदास संसार की मोहनी माया में आपाद-मस्तक डूब गये। वे सदा अपनी स्त्री के साथ ही साथ रहते थे। क्षण भर के लिये भी स्त्री का साथ नहीं छोड़ते थे। एक बार उनकी स्त्री को लिवा ले जाने के लिये उसके पिता ने अपने किसी आत्मीय को भेजा। किन्तु तुलसीदास स्त्री को भेजना नहीं चाहते थे। दीनबन्धु पाठक ने कई बेर आदमी

---

१ कोई कोई इन्हें सरयूपारी ब्राह्मण भी बतलाते है।

२ श्रीयुत गणेशचन्द्र मुखोपाध्याय को छोड़, अन्य किसी जीवनी-लेखक ने गोस्वामी जी को नन्ददास का सहोदर नहीं बतलाया।

भूमिका
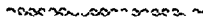
भारतवर्ष की धर्मभूमि में कितने भगवत्परायण पुरुष, इस संसार की ममता परित्याग कर, धर्मपथ के पथिक हुए हैं, इसका लेखा लगाना सहज काम नहीं है, किन्तु जगत भर के सत्पुरुष इस बात में सहमत हैं कि, जितने भगवद्भक्त, योगी, यती, ब्रह्मज्ञानी, स्वार्थत्यागी आदर्श महात्मा भारतवर्ष में हो गये हैं, उतने किसी भी अन्य देश में नहीं हुए ; किन्तु दुःख की बात है कि, उनके जीवनचरित लिपिवद्ध न होने के कारण यह जानना बड़ा कठिन है कि, वे अपने जन्म से किस देश की भूमि, किस माता पिता की गोद और किस महात्मा के आश्रम की शोभा बढ़ा कर, निज जीवन रूपी नाट्य के चमत्कारिक दृश्य संसार को दिखा गये हैं।

यह बात केवल उन्हीं महापुरुषों के विषय में नहीं है, जिन्होंने भगवद्भजन और तत्वविचार के अतिरिक्त ग्रन्थादि का निर्माण करना उचित ही नहीं समझा ; किन्तु जिन्होंने ग्रन्थों की रचना करने पर भी अपने विषय में श्वेत कृष्ण कुछ भी नहीं लिखा उनके विषय में भी यही बात है।

यही कारण है कि, भारत के अनेक पूर्वाचार्यों एवं महात्माओं के यथार्थ चरितों का कुछ भी पता नहीं चलता। यदि चला भी, तो उसका बचना उस विडम्बना से कठिन है, जो आज कल के

उन लेखकों द्वारा हो रही है, जिनकी स्थिति, केवल हेतु-शून्य-अनुमान की भित्ति पर निर्भर है।

चरित-नायक यदि चरित्र-लेखक के समय उपस्थित हो तो चरित्र लिखना उतना कठिन नहीं है; जितना उसके अनुपस्थित होने पर। उसके लोकान्तरित होने पर वे ही बातें दुर्लभ एवं अप्राप्य हो जाती हैं, जिन्हें एक लेखक, चरित्रनायक की जीवित दशा में सुलभ समझ छोड़ देना साधारण बात समझता है।

इस पुस्तक में जितने आचार्य एवं महात्माओं के चरित्र लिखे गये हैं; वे भारतवर्ष में प्रसिद्धि-प्राप्त एवं पूज्य समझ कर, अब भी घर घर सम्मानित होते हैं। इनमें श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य आदि ऐसे हैं; जिनका उपकार कृतज्ञ हिन्दू जाति कभी भूल नहीं सकती। ऐसे आचार्यों के स्थिति-काल के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। ऐसी दशा में जो लेखक छाती ठोक कर, महात्माओं के सत्य चरित लिखने की प्रतिज्ञा करे, उसका ऐसा करना केवल दुस्साहस मात्र है।

हमने उपलब्ध सामग्री से यथासम्भव संग्रहीत चरितों को निरपेक्ष भाव से लिखा है। साथ ही वर्त्तमान समय में उन पूज्य आचार्यों के शिष्य प्रशिष्यों में जो कुरीतियां अथवा त्रुटियाँ वर्त्तमान हैं, उनका उल्लेख करने में भी सङ्कोच नहीं किया। इस पुस्तक के पढ़ने से भारतवर्ष के पूर्ववर्त्ती धर्माचार्यों का सम्प्रदाय-स्थापन का आन्तरिक उद्देश्य भी अवगत हो सकेगा।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि, अच्छे लोगों के चरित पढ़ने और सुनने से जैसे उन्नति के साधनों का ज्ञान उत्पन्न होता है; वैसे ही अधोगति से बचने का अवसर भी मिलता है। इसी लिये महाभारत में एक जगह लिखा है:—

पुराणमितिहासञ्च तथाख्यानानि यानि च।
महात्मानां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव च॥

अर्थात् पुराण, इतिहास, आख्यान और महात्माओ के चरित नित्य सुनने चाहिए।

हमने इस पुस्तक को दो भागो में विभक्त किया है। इस संग्रह के मुख्य आधार स्वरूप नीचे लिखे ग्रन्थ हैं—श्री-गणेशचन्द्र मुखोपाध्यायकृत "जीवनीसंग्रह," श्रीयुत साधुचरण कृत "भारतभ्रमण" एवं स्वर्गीय पं० माधवप्रसाद मिश्र सम्पादित "सुदर्शन"।

अन्त में हमें यह आशा है कि इस पुस्तक में संग्रहीत आदर्श महात्माओं के चरित, अवश्य ही भारत की वर्त्तमान सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति के सुधारने मे सहायक सिद्ध होगे।

प्रयाग
माघ सुदी १४
सं० १९६८

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा

आदर्श-महात्मागण

बुद्धदेव

—:०:※:०:—

वंश-परिचय

बुद्धदेव का जन्म शाक्यवश में हुआ था और वे योगसाधन कर सिद्ध हुए थे। शाक्यवंशीय नरपतियों मे अकेले उन्होंने काम क्रोधादि शत्रुओं को परास्त किया था। उनकी ऐसी क्षमता देख कर ही उनके वंशवालों ने उनका नाम शाक्यसिंह अथवा शाक्यमुनि रखा था। हिन्दुओं के पुराणों के मतानुसार शाक्यवंश असल में सूर्य्यवंश की एक पृथक् शाखा है। सूर्य्यवंशीय राजा इक्ष्वाकु ने जिस वश की बेल बढ़ाई, उसी वंश की एक शाखा से शाक्यवंश की उत्पत्ति हुई। इक्ष्वाकु-वंशीय सुजात नामक एक राजा थे। सुजात के पुत्र जब अपने पिता द्वारा निर्वासित किये गये, तब उनका नाम पड़ा "शाक्य"। सुजात ने अपने पुत्रों को क्यों देश-निकाला दिया था? इस प्रश्न का उत्तर हम नीचे लिपिबद्ध करते हैं।

प्राचीन काल में अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकु-वंशीय सुजात नामक, एक प्रतापशाली राजा थे। उनके पांच पुत्र और पांच

ही कन्याएँ थीं। पुत्रो के नाम ये थे—उपूर, निपूर, करकुण्डक, उल्कामुख और हस्तिशीर्षक । कन्याओ के नाम ये थे—शुद्धा, विमला, विजिता, जला और जली। इन कन्याओ के अतिरिक्त सुजात के एक और पुत्र था, जिसका नाम जन्तु था। वह राजा की पटरानी की सखी की कोख से और राजा के औरस से उत्पन्न हुआ था। सखी का नाम था जेन्ती, इसीसे सब लोग उसके पुत्र को 'जेन्तु' 'जेन्तु' कहा करते थे।

राजा सुजात, एक दिन इस सखी की स्त्रीभाव से आराधना कर रहे थे। जेन्ती भी उनकी वासना पूर्ण कर रही थी। इस पर राजा ने प्रसन्न हो कर, जेन्ती से कहा—"तुम्हारा सौजन्य देख कर, हम तुम्हें वर देना चाहते हैं ; अतः जो तुम चाहती हो सो वर माँगो।" राजा के ऐसे वचन सुन, जेन्ती ने मन ही मन विचारा कि, जब यह राजा न रहेगा , तब इसके अन्य पुत्र सारा राज आपस में बाँट लेंगे, मेरे पुत्र को कोई पूछेगा भी नहीं; अतः मैं ऐसा वर मागूँ , जिससे मेरा पुत्र ही अयोध्या की राजगद्दी पर बैठे। इस प्रकार सोच विचार कर, जेन्ती ने कहा—"महाराज ! यदि आप सचमुच मुझे वर देना चाहते हैं, तो आप अपने पाँचो पुत्रो को देश-निकाला दे कर, मेरे बेटे को राज्य प्रदान कीजिये।" महाराज सुजात जेन्ती के मुख से, यह बात सुन बड़े दुःखी हुए। किन्तु प्रतिज्ञा भङ्ग होने के डर से, किसी प्रकार अपनी बात को नहीं टाल सके। राजा ने कहा—"अच्छा ऐसा ही होगा" और जेन्ती की मनोकामना पूरी की। राजा के वरप्रदान की चर्चा सारे नगर में फैल गयी । राजपुत्रो ने अपने पिता की बात रखने के लिये, राज्य छोड़ कर वन को प्रस्थान किया। राजकुमारो को वन में जाते देख राजधानी-वासी अनेक नर उनके साथ हो लिये। ये लोग अनेक

देशो में घूमते फिरते हिमालय के समीप और रोहिणी नदी के तीरवर्त्ती शकोट वन में पहुँचे। इस लवे चौडे वन के वीच में महानुभाव और महाज्ञानी कपिल मुनि का आश्रम था। राजकुमार उसी शकोट वन में रहने लगे और अन्य किसी वश के साथ सम्वन्ध न कर के, उन्होंने अपनी वहिनो के साथ विवाह कर अपना वंश वढाया। इन्हींका वंश शाक्य-वंश कहा जाता है। सुजात राजा के ज्येष्ठपुत्र उपुर ही को शाक्य वंश का आदि या प्रथम पुरुष समझना चाहिये। इस प्रकार से शाक्य-वंश इक्ष्वाकु-वश की एक शाखा मात्र है।

कपिलवस्तु नगर की उत्पत्ति

सुजात राजा के निर्वासित पुत्र वहुत से लोगो के साथ हिमालय के समीपवर्त्ती प्रदेश मे एव कपिलमुनि* के आश्रम के आसपास शकोट वन में वस गये। धीरे धीरे और लोग भी वहाँ आने जाने लगे। अनेक देशों के व्यापारी भी वहाँ आते जाते थे। उस समय राजकुमारो की इच्छा हुई कि, हम लोग यहीं वसें, और अन्यत्र कहीं न जाँय। इस प्रकार विचार कर, राजकुमारो ने कपिल मुनि से आज्ञा माँगी और उस वन में उन्होंने एक उत्तम नगर वसाया। यह नगर कपिल मुनि की आज्ञानुसार वसाया गया था; अतः उसका नाम "कपिलवस्तु" रखा गया।

इस नगर का स्थापित करते ही राजकुमारों की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि होने लगी। क्रमशः यह नगर इतना समृद्धिशाली हुआ

---

* यह वे कपिलमुनि नहीं हैं, जो सांख्यदर्शन के वक्ता एवं जो सगर-सन्तान को शाप द्वारा भस्म करने के लिये प्रसिद्ध हैं। यह कपिलमुनि गौतम गोत्रीय कोई दूसरे कपिलमुनि थे।

कि, वह वाणिज्य का प्रधान केन्द्र हो गया। सुजात राजा के ज्येष्ठपुत्र उपूर वहाँ के राजा हुए। उपूर के पश्चात् यथाक्रम निपूर, करकुन्तक, सिंहहनु आदि राजा हुए। सिंहहनु के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रों के नाम थे—शुद्धोदन, धौतोदन, शुभोदन एवं अमृतोदन। कन्या का नाम अमिता था। इन सब में शुद्धोदन ही ज्येष्ठ था। अतः सिंहहनु के मरने पर शुद्धोदन को पैतृक राज्य मिला। इन्हीं शुद्धोदन के औरस और कोलवंशीय मायादेवी की कोख से बुद्धदेव का जन्म हुआ था।

इक्ष्वाकुवंशीय राजा सुजात का ज्येष्ठपुत्र उपूर ही, विख्यात शाक्यवंश का मूलपुरुष था। उपूर की छठवीं पीढ़ी में महात्मा शाक्यमुनि का जन्म हुआ।

शाक्यमुनि के मातृकुल का इतिहास

शाक्यसिंह के मातृकुल का इतिहास बड़ा अद्भुत है। राजा शुद्धोदन ने जिस कुल में विवाह किया था, वह कुल या वंश शाक्य होने पर भी, उनको पाणिगृहीता भार्य्या कौलीय वंशवालों की दौहित्री (धेवती) थी। इस कौलीय वंश या कौलीय कुल की उत्पत्ति शाक्यवंश की कन्या से हुई थी। किसी एक परित्यक्ता शाक्य-कन्या के गर्भ से और एक ऋषि के औरस से कोल नामक एक जन उत्पन्न हुआ। यही कौलवंश का मूलपुरुष था। कौलीय वंश की उत्पत्ति का वृत्तान्त यह है :—

सुजात के पुत्र एवं उनके साथ आये हुए उन क्षत्रियों का वंश जिनका नाम शाक्य पड़ गया था, धीरे धीरे बढ़ने लगा। कुन्तक शाक्य के राजत्वकाल में किसी एक शाक्य कुलोद्भवा कन्या के कुष्ठ रोग उत्पन्न हुआ। बड़े बड़े नामी वैद्यों ने चिकित्सा

की, पर वे उस रोग को न हटा सके। उस कन्या के सारे शरीर में घाव हो गये। गलद् कुष्ठ रोगसे आक्रान्त होने के कारण उस हत-भागिनी कन्या को, हर एक मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखता था। उसके भाइयों ने उसे किसी पर्वत पर छोड़ आने की मन में ठानी और एक गाड़ी में बिठा, वे उसे हिमालय पर्वत की ओर ले गये। वहाँ उस कन्या को उन लोगों ने एक गुफा में बिठाया। फिर उसके पास बहुत सी खाने पीने की सामग्री एवं ओढ़ने बिछाने के लिये कंबल आदि रखे। अनन्तर उस गुफा का द्वार लकड़ी से बद कर, द्वार की सन्धियो को वालू द्वारा बंद कर दिया। इतना कर वे कपिलवस्तु को लौट आये। मृतकल्पा शाक्य-दुहिता कई दिनो तक उस गुफा में रही। वायुहीन स्थान में रहने से अथवा उस गुफा की उष्णता के कारण से, शाक्यदुहिता के शरीर का सारा कोढ़ अच्छा हो गया। शरीर कलङ्कशून्य होकर इतना सुन्दर निकल आया कि, उसे देख कर, उसके देव-कन्या होने,में तिल भर भी सन्देह नहीं रह जाता था।

एक बार आहार की खोज में एक भूखा व्याघ्र, मनुष्य की गन्ध पा उस गुफा के पास पहुँचा। सूँघता साँघता वह अपने नखों से गुफा के मुख की वालुका आदि हटाने लगा। इसी गुफा के अति समीप।कोल नामक एक राजर्षि रहते थे। उसी समय वे राजर्षि भी फल लेने के लिये आश्रम से निकले और उस गुफा के पास पहुँचे। ऋषि को देखते ही व्याघ्र वहाँ से भाग गया। गुफा के द्वार की वालू तो व्याघ्र ने हटा दी थी, किन्तु लकड़ियाँ अभी ज्यों की त्यों रखी हुई थीं। ऋषि ने कौतूहलवश उन लकड़ियों को हटा कर देखा कि, गुफा के भीतर एक देवकन्या बैठी है। ऋषि ने उससे पूँछा—" तुम कौन हो ?" कन्या ने उत्तर दिया—"मैं कपिलवस्तु-वासी अमुक शाक्य की कन्या हूँ ; मुझे गलद्-

कुष्ठ का रोग था ; उसे देख मेरे भाइयों के मन में मेरी ओर से घृणा उत्पन्न हुई। उन लोगों ने मुझे ला कर, यहां जीता जागता बद कर दिया । यहाँ आने के कई दिनों बाद मेरा रोग अपने आप अच्छा होगया । आपके अनुग्रह से अब मैं चङ्गी हूँ और आज बहुत दिनो बाद मनुष्य का मुख देख, मुझे जान पड़ता है कि, मेरा पुनर्जन्म हुआ है।

राजर्षि उस कन्या के रूप पर मुग्ध होकर, उसे अपने आश्रम में लिवा ले गये और ध्यान ज्ञान आदि समस्त विरक्तोचित कर्मों को परित्याग कर, वे उस कन्या के साथ गार्हस्थ्य धर्म का अनुशीलन करने लगे। काल पा कर वह शाक्यदुहिता गर्भवती हुई और एक एक कर के उसके सोलह पुत्र जन्मे। जब वे ऋषिपुत्र बडे और समझदार हुए, तब उनकी माता ने उन्हें कपिलवस्तु जाने की आज्ञा दी और कहा—' पुत्रगण ! कपिलवस्तु नगर में अमुक नामधारी मेरा पिता है। तुम्हारे मामा और मेरे भाइयो के अमुक अमुक नाम हैं। अब तुम उनके पास जाओ। वे निश्चय तुम्हारी आजीविका का कुछ प्रबन्ध कर देंगे। तुम्हारा मातृवंश महद्वंश है। वे लोग अवश्य तुमको ग्रहण करेंगे।"

यह कह कर शाक्य-दुहिता ने अपने पुत्रो को शाक्यवंश का आचार व्यवहार, रीति नीति बतलायी। वे लोग मातृकुल की रीति नीति सीख कर, कपिलवस्तु नगरी में गये और शाक्यो के सभामण्डप में पहुँचे । माता की बतलाई हुई रीति नीति के अनुसार सभाभवन में उन्होने प्रवेश किया। शाक्यों ने ऋषिकुमारो को शाक्योचित आचरण में प्रवृत्त देख कर पूछा—" तुम लोग कहाँ से आ रहे हो और तुम किसके वंशधर हो ?" इस प्रश्न के उत्तर में वे बोले—" हम लोग

कौलाश्रम से आ रहे हैं। हमारी माता अमुक शाक्य की कन्या है। हमारे पिता कोल ऋषि हैं। हमारी माता के जब कुष्ठ का रोग हुआ, तब अमुक शाक्य उसे गिरिगह्वर में बंद कर आया था। देवानुग्रह से माता का रोग छुट गया और कोल ऋषि ने उनके साथ विवाह कर लिया। हम लोग अपने मातामह और मातुलो को देखने के लिये आये हैं।"

उक्त वालकों के मातामह उस समय जीवित थे और वे अपने पुत्र पौत्रों सहित सभा में उपस्थित थे। ऋषिकुमारों का वृत्तान्त सुन, उन्हें वड़ा आश्चर्य हुआ और वे प्रसन्न हुए। विशेष आनन्दित होने का कारण यह था कि, वे कोल ऋषि को जानते थे। राजर्षि कोल असल में काशी के राजा थे। वे अपने ज्येष्ठपुत्र को सारा राज्य भार सौंप कर, हिमालय की तराई में तप करने के लिये चले आये थे। उन्होंने शाक्य-दुहिता के साथ विवाह कर लिया और उनके औरस से दौहित्र-गण उत्पन्न हुए—यह शाक्यों के लिये अवश्य वडे आनन्द की वात थी।

शाक्यो ने अपने दौहित्र एव भागिनेय-गण (भाञ्जो) को अपने घर में रखा और उन्हें उचित वृत्ति प्रदान की। जिस वालक का जो नाम था, उस वालक के नाम पर, ग्राम का नाम रख, प्रत्येक वालक को एक एक ग्राम दिया और खेती के योग्य थोड़ी सी भूमि भी प्रत्येक को दी। वे सव कौलीय नाम से प्रसिद्ध हुए। शाक्य-कन्या के गर्भ से कौलीयवंश की उत्पत्ति का यही इतिहास है। सुभूति नाम एक शाक्य ने इसी कौल-वंश की एक सुन्दरी कन्या के साथ विवाह किया था। सुभूति की स्त्री के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई थी। उस कन्या का नाम मायादेवी था।

कपिलवस्तु के पास ही देवहेड़ा नामक एक ग्राम था, जिसमें सुभूति शाक्य रहता था। सुभूति उस ग्राम का अधिपति था। उसने करभद्र ग्राम के कौलीयवंश की एक कन्या के साथ विवाह किया और उससे सात कन्या उत्पन्न कीं। उसके कोई पुत्र भी था कि नहीं, यह नहीं जाना जा सकता। उसकी कन्याओं के नाम ये थे—माया, महामाया, अतिमाया, अनन्तमाया, चुलारा, कौलोसेवा और महाप्रजापति।

राजा सिंहहनु के परलोकवासी होने पर, उसका ज्येष्ठपुत्र शुद्धोदन गद्दी पर बैठा और उसने उपरोक्त सुभूति-शाक्य की प्रथमा कन्या माया और सब से छोटी कन्या महाप्रजापति के साथ विवाह किया। विवाह होने के बारह वर्ष बाद शुद्धोदन के औरस से और मायादेवी के गर्भ से शाक्यसिंह उत्पन्न हुए।

बुद्धदेव का जन्म

भूगोल-प्रेमियों से नैपाल राज्य का नाम अपरिचित नहीं है। इसी नैपाल राज्य के अन्तर्गत कपिलवस्तु* नामक एक नगर था, जिसमें शाक्य-वंश सम्भूत राजा शुद्धोदन की राजधानी थी।

महाराज शुद्धोदन के पाँच रानियाँ थीं, उनमें मायादेवी पटरानी थी। मायादेवी जैसी रूप में अद्वितीया थी, वैसी ही वह अतुलनीया गुणवती भी थी। महाराज उसके रूप लावण्य पर ऐसे मुग्ध हो गये थे कि, वे उसे अपनी आँखों की ओट एक क्षण को भी नहीं करते थे। वे उसके केवल शारीरिक सौन्दर्य-छटा पर ही विमोहित थे सो नहीं, किन्तु मायादेवी ने अपनी कर्त्तव्य-प्रियता, आत्म-संयम, धर्म-निष्ठा आदि अलौकिक गुणों

---

* कपिलवस्तु का प्रचलित नाम "कोहना" है।

से महाराज को अपने वश में कर रखा था। यद्यपि महाराज शुद्धोदन महारानी मायादेवी जैसी अशेष सद्गुणालङ्कृता एवं सर्वसौन्दर्यशालिनी भार्य्या को पाकर, अपने को परम सुखी समझते थे ; तथापि उनके मन में एक दुर्दमनीय आकांक्षा रूपी आग सुलगा करती थी। इसीसे वे परम सुखी होने पर भी कभी कभी उस चिन्ता में पड़, मृतप्राय हो जाया करते थे। जो सती साध्वी स्त्रियां होती हैं, वे न तो अपने स्वामी को क्षण के लिये भी विषादयुक्त देख सकती हैं और न स्वामी की निन्दा या अपवाद ही सुन सकती हैं। वे अपने पति को प्रसन्न करने के लिये सदा सचेष्ट रहती हैं।

एक दिन मायादेवी ने महाराज के मुखमण्डल को निष्प्रभ देख कर, उनसे पूँछा—

मायादेवी—नाथ! आपका मुखमण्डल प्रभाहीन क्यों हो रहा है? शरीर स्वस्थ तो है न?

शुद्धोदन—प्रिये! मेरा शरीर बहुत अच्छा है। किन्तु मानसिक वेदना बड़ी यंत्रणा दे रही है। यदि मैं पुन्नाम नरक से उद्धार न हो पाया, तो ये सारा वैभव मेरे किस काम का?

यह सुन मायादेवी समझ गयी कि, महाराज को जो दुःख है, उसे दूर करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। यह विचार कर, उसने महाराज से कहा :—

मायादेवी—स्वामिन्! जिसको वाणी प्रकाश नहीं कर सकती, किन्तु जिसके द्वारा वाणी में बोलने की शक्ति आती है, आप उसीको आराधना कीजिये। जिसको मन नहीं जान पाता ; किन्तु जिसके

द्वारा मन जानने की शक्ति पाता है, उसीकी आप आराधना कीजिये। जिसको हम नेत्रों द्वारा नहीं देख पाते, किन्तु जिसके द्वारा नेत्र देखते हैं, आप उसीका ध्यान कीजिये। जिसको हम कर्ण द्वारा नहीं सुन सकते, किन्तु जो कर्ण में सुनने की शक्ति प्रदान करता है; आप उसीकी आराधना कीजिये। आपकी मनोकामना पूरी होगी।

मायादेवी का उपदेश सुन, महाराज के मन में ज्ञान उत्पन्न हुआ और वे सच्चे मन से भगवदाराधन करने लगे।

चाहे कोई माने या न माने, पर भगवान् अपने भक्त की मनोकामना पूर्ण किये विना नहीं रहते। एक दिन मायादेवी प्रमोदगृह में अपनी एक सखी के साथ वातचीत करते करते औंघने लगी और पड़ते ही सो गयी। सोते सोते उसने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में देखा कि, एक शुभ्र-वर्ण-धारी हाथी, जिसके बड़े बड़े सफेद दाँत हैं; सूँड़ में कमल का फूल दावे वहुत धीरे से उसके पेट में घुस रहा है।

रानी की नींद उचटी, उसने वहुत प्रसन्न होकर स्वप्न का सारा हाल महाराज से कहा। ज्योतिषियों ने स्वप्न का वृत्तान्त सुन कर, यह कहा—

ज्योतिर्विद्—महाराज! एक महापुरुष मायादेवी के गर्भ से आपका पुत्र होने के लिये जन्म ग्रहण करेगा।

वृद्धावस्था में सन्तान होने की सम्भावना का वृत्त सुन, महाराज एवं महारानी—दोनों वहुत प्रसन्न हुए।

यथासमय मायादेवी गर्भवती हुई। एक दिन महाराज के सामने मायादेवी ने मातृगृह जाने की इच्छा प्रकट की। शुद्धोदन अपनी प्रियपत्नी की अभिलाषा सदा पूरी किया करते थे; इसलिये इच्छा न रहते भी, उन्होंने विद्यादेवी को अपने पितृ-गृह जाने का आदेश दिया। यात्रा का शुभ मुहूर्त्त सुधवाने के लिये महाराज ने एक ज्योतिर्विद् को बुलाया। उसने शुभ मुहूर्त्त निकाला। मायादेवी ने उसी दिन अपने पितृ-गृह की ओर यात्रा की। मायादेवी, मार्ग में वन पर्वत आदि की प्राकृतिक शोभा देख कर, बहुत प्रसन्न होती थी; जिस समय वह लुंबिनी नामक उपवन के समीप होकर निकली, उस समय वहाँ की शोभा ने उसके चित्त पर इतना प्रभाव डाला कि, वह रथ से उतर पड़ी। इस उपवन में घूम फिर कर, वह थक कर एक वृत्त के नीचे बैठी हुई थकावट दूर कर रही थी कि, उसी समय उसके गर्भ-वेदना आरम्भ हुई। उसी पेड़ के नीचे, उसने वसन्तकाल की शुक्र पूर्णिमा को सुलत्तण-युक्त एक पुत्ररत्न जना। महाराज इस सुसंवाद को सुनते ही, महारानी और नवजात बालक को उस उपवन से अपने घर ले गये। जैसे पद्महीन सरोवर, गन्धरहित पुष्पहीन उद्यान, फलशून्य वृत्त एव सतीत्व-विहीन रमणी शोभा शून्य मालूम पड़ती है, वैसे ही सन्तानविहीन राजगृह इतने दिनों तक अन्धकाराच्छन्न श्मशानवत् था। किन्तु आज नव-जात बालक के आगमन से वह राजगृह शोभा को प्राप्त हो जगर-मगर हो गया।

महाराज शुद्धोदन को पुत्र का मुख देख, आनन्द तो अवश्य हुआ; किन्तु शीघ्र ही उनके हृदयपटल पर विषाद की एक रेखा अङ्कित हुई। नवजात बालक के जन्म होने के दिन से सातवें दिन महारानी मायादेवी परलोक सिधारीं। नवप्रसूत बालक

चन्द्रकला की तरह दिनों दिन बढ़ने लगा। महाराज ने शिशु का नामकरण एवं अन्नप्राशन संस्कार बड़े समारोह से किये। इस बालक के उत्पन्न होते ही महारानी एवं महाराज की सब मनोकामनाएँ पूरी हुई थीं। अतः महाराज ने उसका नाम "सर्वार्थ-सिद्ध" रखा।

सिद्धार्थ अलौकिक बुद्धिबल के सहारे, अतिअल्प समय में सब विद्याओं में विलक्षण पारदर्शी होगया। वह अन्य बालको की तरह क्रीड़ासक्त न था; अवकाश मिलने पर वह निर्जन स्थान में जाकर, ईश्वर का स्मरण किया करता था। एक दिन सिद्धार्थ अपने भाईबंदों के साथ ग्राम्यभूमि देखने के लिये गया। रास्ते में उसे एक निर्जन उद्यान दिखलाई पड़ा। उसे देख और अपने संगी साथियो को छोड़, वह उसमें जाकर इधर उधर टहलने लगा। घूमते फिरते जब वह थक गया; तब थकावट मिटाने के लिये वह सुन्दर वृक्ष के तले बैठ गया। सिद्धार्थ के मन को एकान्त में पाकर, चिन्ता ने, उसे ईश्वर की भक्ति का उपदेश दिया। चिन्ता के उपदेशानुसार ईश्वर-भक्ति में डूब, वह अचेत हो ध्यानमग्न हो गया। उधर महाराज शुद्धोदन राजकुमार को न देख, बडे चिन्तित हुए और उसे ढूढ़ने के लिये अनेक मनुष्यो को भेजा। इतने में एक मनुष्य ने कुमार का पता लगा सारा हाल जाकर महाराज से कहा। महा-राज ने उद्यान में जाकर, राजकुमार को उस अवस्था में देख, बड़ा अचम्भा माना। बहुत लोगो के आने का आहट पा एवं उनका कोलाहल सुन, राजकुमार का ध्यान भङ्ग हुआ। पिता को सामने देख सिद्धार्थ कुछ लज्जित सा हुआ और उनके साथ घर लौट गया।

विवाह

यौवनावस्था के प्रारम्भ ही में पुत्र को इस प्रकार संसार से विरक्त देख, शुद्धोदन ने शीघ्र ही उसे परिणय-पाश में बाँधने का संकल्प किया। कुमार का विवाह सम्बन्धी मतामत जानने के लिये शुद्धोदन ने अपने प्रधान मंत्री को राजकुमार के पास भेजा। सिद्धार्थ ने उस विषय पर स्थिरचित्त हो कर विचार पूर्वक सात दिन के बाद उत्तर देने की प्रतिज्ञा कर, मंत्री को विदा किया। "विवाह करना ठीक है कि नहीं" इसी विषय पर राजकुमार ने छ दिन तक भलीभांति विचार किया। अन्त में उसने यह निष्कर्ष निकाला कि, वन में रह कर, धर्मपालन करना बड़ा सहज है, किन्तु गृहस्थाश्रम में रह कर और सैकड़ों सहस्रों पापों के प्रलोभनों से आत्मरक्षा करते हुए, धर्म-कर्म-परायण होना बड़ा कठिन होने पर भी, गृही बन कर मुझे धर्म-पालन करना ही उचित है, अतः मुझे विवाह करना चाहिये। इस प्रकार सिद्धान्त निश्चित कर, सातवें दिन राजकुमार ने प्रधान-मंत्री से, विवाह करने की सम्मति प्रकट करते हुए कहा—"क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्री, क्या वैश्य और क्या शूद्र, मैं तो उस जाति की कन्या के साथ विवाह करूँगा, जो विविध गुणों से विभूषिता होगी। जो कन्या गुण, सत्य एवं धर्म्म में श्रेष्ठा होगी, वही कन्या मेरी भार्य्या होगी। जिस कन्या में ईर्ष्यादि दोष नहीं होंगे, जो सदा सत्यवादिनी, रूपयौवन में अद्वितीया होने पर भी अपने रूप की अभिमानिनी न होगी, जो माता पिता के प्रति स्नेहान्विता होगी; जो शठ, प्रवञ्चना एवं कठोर-वचन-भाषिणी न होगी; जो सदैव संयतेन्द्रिया एवं दान्तिका रहेगी; जो उद्धता और प्रगल्भा न होगी, जो व्यर्थ की कल्पनाएँ न करती

होगी ; तोषामोद भी न करती होगी और जो लज्जावती, धार्मिका और शास्त्रज्ञा होगी ; उसी कन्या को मैं अपनी भार्य्या बनाऊँगा।"

मंत्री ने राजकुमार का अभिप्राय समझ महाराज से सब वृत्तान्त जाकर कहा। पुत्र को विवाह करने के लिये तत्पर जान, शुद्धोदन ने कुमार के बतलाये हुए गुणो से युक्ता एवं उक्त स्वभाव-वाली कन्या की खोज में ब्राह्मणों को भेजा। एक ने लौट कर महाराज से कहा :—

ब्राह्मण—महाराज ! मैंने राजकुमार के योग्य एक कन्या का पता पाया है। वह दण्डपाणि शाक्य की बेटी है।

इसी प्रकार प्रत्येक ब्राह्मण ने एक दो सुपात्रियो के नाम आ कर बतलाये। सभी ब्राह्मण अपनी अपनी खोजी हुई कन्या की बड़ी लंबी चौड़ी प्रशंसा करते थे। इस पर मंत्री ने ब्राह्मणो को सम्बोधन कर कहा :—

मंत्री—देखो, राजकुमार जिसे अपनी इच्छा के अनुकूल पावेगा उसीके साथ विवाह करेगा। इसके लिये एक उपाय करो। राजकुमार आमंत्रित राजकुमारियो को सुवर्ण, रत्न, चाँदी से भरा हुआ अशोकभाण्ड बाँटे। राजकुमार उनमें से जिस किसी को पसन्द करेगा, उसीके साथ राजकुमार का विवाह कर दिया जायगा।

महाराज शुद्धोदन ने मंत्री के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और राज्य भर में घोषणा करवा दी कि, आज के सातवें दिन कुमार सिद्धार्थ आमंत्रित कुमारियो को अशोकभाण्ड वितरण करेगा। समस्त राजकुमारियो को संस्थागार (राजसभा) में

उपस्थित होना चाहिये। निर्दिष्ट दिन राजकुमार ने रत्नजटित-सिंहासन पर बैठ कर, अशोकभाण्ड बाँटे। उस समय कुमार के मन का भाव जानने के लिये महाराज ने वहाँ एक गुप्तचर नियुक्त कर दिया। अशोकभाण्ड का वितरण करना आरम्भ हुआ। एक एक कर के सिद्धार्थ के पास कुमारियाँ जाने लगीं। उनमें प्रत्येक के साथ जो एक प्रधाना सहचरी थी वह अपनी अपनी कुमारी की वंशमर्यादा का परिचय देती जाती थी। परिचय पा चुकने पर राजकुमार अशोकभाण्ड देते थे।

जब सारे अशोकभाण्ड बाँटे जा चुके; तब दण्डपाणि की कन्या गोपा ने जाकर, अशोकभाण्ड माँगा। उस समय और अशोकभाण्ड न होने पर, सिद्धार्थ ने गोपा से कहा :—

राजकुमार—सुन्दरी! तुम सब के पीछे क्यों आयीं?

यह कह कर राजकुमार ने अपनी बहुमूल्य अँगूठी उतार कर उसे देदी।

परिणय भी एक अद्भुत व्यापार है। नहीं नहीं—यह विधाता की एक अपूर्व लीला है। यह परिणय दो अपरिचितो के हृदय को मिला कर, एक कर देता है। यह दोनों के नेत्रों को एक कर द्वैतभाव को विलुप्त कर देता है, यह एक दूसरे के गुणों को एक दूसरे के हृदय में प्रवेश करा कर, लुप्त कर देता है। यह दोनो को एक दूसरे के सुख दुःख का साथी बना देता है। सच तो यह है कि, दाम्पत्य-प्रणय, बड़ा विस्मयोत्पादक है। इसका उद्रेक किस प्रकार होता है और किस प्रकार नहीं होता—यह कोई नहीं जानता। पेड़ के गिरते ही माधवी-लता भी टूट जाती है, फल भी टूट कर गिर पड़ते हैं। जो परमाणु सयुक्त थे, वे वियुक्त हो जाते हैं, किन्तु दाम्पत्य-प्रणय में परिणीत हृदय

विभिन्न नहीं होते । दाम्पत्य-प्रणय में नर-नारी का आत्मा मिलता है। यह मिलन बड़ा ही सुन्दर है और पवित्रता का आकार है। सिद्धार्थ ने गोपा की पवित्र मूर्त्ति का दर्शन कर, उसके साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की। यह जान, महाराज बहुत प्रसन्न हुए और उसी क्षण दण्डपाणि के पास एक दूत भेजा । अनन्तर दोनों ओर से सब बातें पक्की हो चुकने पर उन्नीस वर्ष की अवस्था में बड़ी धूमधाम के साथ, सिद्धार्थ का विवाह गोपा के साथ किया गया।

वैराग्योदय

विवाह हो चुकने के बाद कई एक वर्षों तक निरन्तर मन लगा कर पति-सेवा कर के गोपा ने विचारा कि, अब इस संसार-समुद्र से शान्तिपूर्वक उन दोनों की नाव पार हो जायगी। महाराज शुद्धोदन ने सोचा कि, पुत्र को राज्यभार सौंप कर, हम शेष जीवन को निश्चिन्त हो भगवदाराधन में व्यतीत करेंगे; किन्तु इस जगत में लोगों की सारी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। एक दिन नारीकण्ठ से निकली हुई माङ्गलिक प्रभाती को सुन, राजकुमार की निद्रा भङ्ग हुई। आँख खुलने पर राजकुमार ने मन लगा कर, उस गम्भीर ज्ञानपूर्ण सुललित गीत को सुना। गीत सुनते ही सुनते, उनका हृदय द्रवीभूत हुआ और मनुष्य-शरीर क्षणभङ्गुर है—यह ज्ञान उनके मन में उदय हुआ। वे सोचने लगे—"इस अनित्य संसार के बीच निश्चय कोई नित्य पदार्थ है, जिसके मिलने पर मन शान्त हो जाता है"। इसी बात की चिन्ता में फँस, राजकुमार का मन, रात दिन उधेड़बुन करने लगा।

एक दिन अपराह्ण में राजकुमार रथ पर सवार हो, राज-भवन के उत्तर द्वार से घूमने के लिये बाहर गया। रास्ते में उसे एक दरिद्र मनुष्य दीख पड़ा। उसके बाल सफ़ेद थे, शरीर का चमड़ा सिकुड़ गया था, हाथ पैर शिथिल हो गये थे, दाँत गिर पड़े थे, कमर झुक गयी थी। वह लाठी के सहारे बड़ी कठिनता से चल पाता था। उस दरिद्र मनुष्य की दशा देख राजकुमार का मन सहसा विकल हुआ। उसने उत्सुक हो सारथि से पूँछा—

राजकुमार—छन्दक! यह कौन जीव है? ऐसा जीव तो मैंने कभी नहीं देखा था।

सारथि—(विनीत भाव से) युवराज! यह मनुष्य है, किन्तु अधिक अवस्था हो जाने से यह वृद्ध होगया है। बुढ़ापे में मनुष्य का शरीर अशक्त और सामर्थ्यहीन हो जाता है। इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं। प्राणी मात्र की यह दशा अवश्यम्भावी है।

सारथि के मुख से ये बातें सुन, राजकुमार का मन चञ्चल हुआ। उससे न रहा गया। उसने छन्दक से कहा:—

राजकुमार—हा! मैं कैसा मूढ़ हूँ! यौवन के मद में मत्त होकर, इस शरीर के अन्तिम परिणाम को एक बार भी नहीं विचारता। मैं भ्रमण करने अब न जाऊँगा, तुम मुझे घर लौटा ले चलो।

राजकुमार घर पहुँच कर घोर चिन्ता में निमग्न हुआ।

इस घटना के कई एक दिनों बाद राजकुमार ने प्रमोद उद्यान में जाने की इच्छा प्रकट की। छन्दक पहले ही राजकुमार का मनोभाव जान गया था। अतः उसने उस दिन सुसज्जित रथ ले जाकर राजभवन के दक्षिण द्वार पर खड़ा किया।

राजकुमार ने दक्षिण द्वार से होकर प्रमोद्वन जाते समय, रास्ते में देखा कि, एक आदमी, सड़क के किनारे बैठा हुआ, धीरे धीरे वमन कर रहा है और मारे पीड़ा के हाहाकार कर के छटपटा रहा है। राजकुमार ने उसकी दशा देख सारथि से पूँछाः—

राजकुमार—छन्दक ! यह मनुष्य यह क्या कर रहा है ?

छन्दक (नम्रभाव से)—प्रभो ! यह मनुष्य बीमार है। रोग की यंत्रणा न सह सकने के कारण इसकी यह दुर्दशा हो रही है। जीवधारियों का जीवन कभी एक सा सदा नहीं रहता। किसी न किसी दिन हम लोगों की भी यही दशा होगी।

छन्दक की बातें सुन गत दिन की तरह राजकुमार फिर घर लौट आया।

एक दिन फिर राजकुमार भ्रमण करने के लिये पश्चिम द्वार से निकला। दैवसंयोग से उस दिन भी उसने देखा कि, कई एक आदमी, कपड़े से लपेट कर एक मनुष्य का शव लिये जा रहे हैं और उनके पीछे कई एक जन चिल्ला कर रोते विलाप करते हुए चले जाते हैं। इस शोकावह दृश्य को देख, सिद्धार्थ ने नेत्रों में आँसू भर कर, छन्दक से पूँछा—

राजकुमार—छन्दक ! इस मनुष्य का शरीर आपादमस्तक क्यो लपेटा गया है ? इसके साथी संगियो के रुदन करने का क्या कारण है ?

सारथि—(विनम्र स्वर से) कुमार ! इस मनुष्य का प्राणवायु शरीर से निकल गया। यह जीवन-शून्य देह है।

अब उस शरीर को अग्नि में दग्ध करने के लिये वे लोग उसे लिये जाते हैं। इस संसार में उसको अब फिर न देख सकने के कारण, उसके आत्मीयगण हाहाकार कर रहे हैं।

राजकुमार—छन्दक! क्या प्राणीमात्र को मृत्यु आती है?

छन्दक—कुमार! पाञ्चभौतिक शरीर का यही अन्तिम परिणाम है। जैसे वृक्ष में फल लगता है और वह निश्चय ही एक न एक दिन गिरता है, वैसे ही जन्म ग्रहण करने पर, जीवधारियो को भी अवश्य मरना पड़ता है। जैसे समुद्रगामिनी नदी, समुद्र की ओर दौड़ती है, वैसे ही जीवगण भी कालरूपी सागर की ओर दौड़ रहे हैं। आप इस कोलाहलपूर्ण पापमय संसार में जिस ओर देखेंगे उसी ओर आपको क्रन्दनध्वनि सुनायी पड़ेगी। धनियों की आकाशस्पर्शी अट्टालिकाओं से लेकर धनहीन दरिद्र की झोंपडी तक; तपस्वियों के आश्रम से लेकर, घोर विषयासक्त विषयी की आवासभूमि तक, ध्यान देकर देखने पर, केवल हाहाकार और क्रन्दन का शब्द ही सुनाई पड़ेगा। इस संसार में सिवाय रोने के और कुछ भी नहीं है। जान पड़ता है हम लोग केवल रोने के लिये ही रचे गये हैं।

राजकुमार ने सारथि की बातें सुन, दीर्घ निःश्वास परित्याग कर, उससे रथ फिरा कर घर की ओर लौट चलने को कहा। चिन्ता से व्याकुल राजकुमार घर पहुँचा। उस दिन सिद्धार्थ कोमल

शय्या पर पड़ा पड़ा सोचने लगा—"काल ! तुमने यह महा-शक्ति कहाँ से पायी ? जिधर देखता हूँ उधर तुम्हीं तुम दिख-लाई पड़ते हो। जो तुम्हारे भँवर में पड़ जाता है उसे तुम बिना डुबाये नहीं मानते। ये जो सुकुमार शिशु हँस कर खेल रहे हैं, कौन कह सकता है कि, कुछ दिनो बाद तुम्हीं इनके आनन्द-विस्फारित दोनो नेत्रों से दुःख के आँसू न बहाओगे ? हे काल ! क्या इस संसार में तुम्हारे शासन से कोई छुटा नहीं ? या छुटने का कोई उपाय भी नहीं है ?

एक दिन फिर राजकुमार रथ में बैठ पूर्वद्वार से भ्रमण करने के लिये निकला। कुछ ही दूर आगे गया था कि, उसे एक संन्यासी दिखलायी पड़ा। उसकी सौम्य सर्वाङ्ग-विभूति-भूषित मूर्ति; मस्तक पर जटा, हाथ में कमण्डलु और मन को धर्म-चिन्ता में आसक्त देख, राजकुमार ने छन्दक से पूछा :—

राजकुमार—छन्दक ! यह कौन है ?

छन्दक—कुमार ! यह संन्यासी है। इसने आत्मीयवर्ग, गृह और विषयवासना को त्याग कर, धर्म के विचार में अपना अवशेष जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लिया है। संसार भर के मनुष्य इसके आत्मीय और भिक्षा ही इसकी आजीविका है।

छन्दक की बातें सुन राजकुमार ने प्रसन्न होकर कहा—

राजकुमार—आज मैंने जाना कि, संन्यासी बन कर रहने से संसार में मनुष्य को यथार्थ सुख मिल सकता है। छन्दक रथ लौटा ले चलो। अब मैं भ्रमण करना नहीं चाहता।

लौट कर सिद्धार्थ शय्या पर लेट गया और नाना प्रकार के विचारों में पड़, उसका मन नाना प्रकार के भावों से पूरित होने लगा। वह सोचने लगा "यद्यपि खिले हुए पुष्प की तरह पुत्र का निर्मल मुख, परमेश्वर की पवित्रता और आनन्द-मूर्ति का स्मरण करा देता है, यद्यपि प्रेममयी प्राणप्रतिमा सहधर्मिणी का विशुद्ध प्रेम-योग परमपिता परमेश्वर के योगानन्द का आभास रूप है; तथापि मोह ममता को छोड़े विना इन सब सौन्दर्यों का तत्व समझ में नहीं आ सकता। इसीसे संसार में अधिकतर लोग इन्द्रियों के उपभोग के लिये स्त्री एवं पुत्र की सेवा करके शोकताप में दग्ध होते हैं। जब संसार के सारे पदार्थ अनित्य एवं अस्थायी हैं, कोई चिरसङ्गी नहीं; तब शरीर की स्फूर्ति, वसन भूषण का गर्व, सौन्दर्य्य पर ममता एवं विद्या का अहङ्कार करना व्यर्थ है। पृथ्वी के समस्त धार्मिक और महापुरुष, संसार को अनित्य समझ धर्मपथ की ओर अग्रसर होते आये हैं। मैं भी धर्मपथ का पथिक होऊँगा। नित्य असंख्य मानव जरा-व्याधि से पीड़ित हो, मृत्यु के कराल मुख में प्रविष्ट होते हैं। इस जरा-व्याधि और मृत्यु से परित्राण पाने का कोई न कोई उपाय भी अवश्य ही है। मैं उसी उपाय को जानने के अर्थ प्राणपण से यत्न करूँगा।

राजकुमार ने इस प्रकार विचार किया और गृहस्थाश्रम को छोड़ने का सिद्धान्त स्थिर किया। किन्तु पिता एवं स्त्री से विना कहे गृहस्थाश्रम छोड़ने पर उनको बड़ा क्लेश होगा; यह विचार कर राजकुमार ने अपना विचार पिता एवं अपनी प्रियपत्नी के सामने प्रकट किया। पुत्र के इस हृदय-विदारक प्रस्ताव को सुन, पुत्रवत्सल महाराज शुद्धोदन का गला भर आया, उनके मुख से

एक बात भी न निकल सकी। बहुत देर बाद मन को कड़ा कर शुद्धोदन ने सिद्धार्थ से कहा—

शुद्धोदन—बेटा ! तुम्हें संसार छोड़ने की क्या आवश्यकता है? तुम्हें दुःख ही किस बात का है? इस संसार में तुम्हें अभाव ही किस वस्तु का है? तुम अतुल ऐश्वर्य के अधीश्वर हो, सैकड़ों सुकण्ठा रमणी, गीतध्वनि से तथा वीणा आदि बाजों की ध्वनि से, तुम्हारे चित्त के विनोदार्थ व्यस्त रहती हैं। सैकड़ों हज़ारो दासीदास तुम्हारी आज्ञापालन के लिये हाथ जोड़े खड़े रहते हैं; गुणवती एवं रूपवती गोपा तुम्हारे जीवन की सहचरी है। इतना होने पर भी तुम किस दुःख के कारण इतने सुखों को लात मार कर, वन को जाना चाहते हो? मैंने तुम्हारे हाथ से स्वर्ग पाया है। तुमको देख मैं अपनी प्राणसमा पत्नी के वियोग को भूल सा गया हूँ; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। यदि तुम्हीं मुझे छोड़ कर चले जाओगे, तो मेरा बचना एकदम असम्भव है।

यह कहते कहते महाराज का गला भर आया और उनसे बोला न गया। सिद्धार्थ ने पिता की कातरोक्ति सुन, कुछ देर तक आँसू बहाये। अनन्तर पिता को समझा कर वह कहने लगाः—

सिद्धार्थ—पितृदेव ! यदि आप मुझे व्याधि और मृत्यु के हाथ से बचा सकें, तो मैं संसार को न छोड़ूँ।

पुत्र की बात सुन, महाराज शुद्धोदन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो बोले—

शुद्धोदन—बेटा! प्रकृति के नियमों को उल्लङ्घन करने की क्षमता किसमें है? बड़े बड़े योगी कठोर तपस्या कर के भी मृत्यु और व्याधि के हाथ से नहीं बच सके। उन्होंने प्रलोभनमय संसार को धर्म-साधन के ज़रिये बाधाजनक जान, कोलाहल-शून्य, निर्जन, गिरिकन्दर और वृक्षराजि-समाकुल अरण्य में जाकर साधन किये, किन्तु क्या वे मृत्यु से बच गये? बेटा! मेरी बात मान और मेरा साथ मत छोड़।

सिद्धार्थ—पितृदेव! जिस समय मैं इस अनित्य परिवर्तनशील ससार की घटनावली पर दृष्टिपात करता हूँ, जिस समय बाहर का कोलाहल और उद्भ्रान्त भाव परित्याग करके, शान्ति और धैर्य्यपूर्वक अपने आत्मा के भीतर घुस कर, साँसारिक विषयो पर विचार करता हूँ, उस समय अपने आप मन में यही प्रश्न उठता है कि—'इस अस्थायी जगत में स्थायी क्या है? मेरा चिर सहचर कौन सा पदार्थ है? आत्मा को सदा एक प्रकार से आनन्द प्रदान करनेवाला पदार्थ कौन सा है, तब मुझे यही सूझ पड़ता है कि, पुत्र, कलत्र, आत्मीय बान्धव और संसार का सुख सौभाग्य, सभी तुच्छ हैं। इसी आत्म-चिन्ता के जाग्रत होने पर मोह का बन्धन शिथिल होजाता है और संसार से विराग उत्पन्न होता है। संसार को अनित्य समझना ही धर्म का अंकुर है। जिस प्रकार गिरती हुई

> अट्टालिका में बैठा हुआ पुरुष, आने वाले भय से परित्राण पाने के लिये निरापद् स्थान में जाने के लिये व्यग्र होता है; उसी प्रकार धर्म-पिपासु मनुष्य, जरा मरण-सङ्कुल-संसार की अनित्यता पर ध्यान देकर, प्राणपण से संसार को त्याग देता है। पितृदेव! आप मुझे आज्ञा दें जिससे मैं चिरानन्दमय, चिरसुखमय, शोक-ताप-जरा-मरण-शून्य अमृतधाम की ओर अग्रसर होऊँ।

महाराज शुद्धोदन ने पुत्र को दृढ़ प्रतिज्ञ देख, शोक से विकल और आँसू बहा कर उदासीन हो, पुत्र को आज्ञा दी। इसी प्रकार गोपा ने भी राजकुमार को बहुतेरा समझाया, किन्तु उसने किसी की बात पर ध्यान न दिया।

इस घटना के कुछ दिनों पूर्व सिद्धार्थ के औरस से गोपा के गर्भ से राहुल नामक एक पुत्र उत्पन्न हो चुका था। पीछे कहीं पुत्र की ममता में फँस, उद्देश्य-च्युत न होना पड़े, इस डर से राजकुमार ने सुनसान रात के समय घर को छोड़ने का विचार किया। दो पहर रात बीतने पर, राजकुमार शय्या को छोड़, दबे पैर अपनी पत्नी के पास गया। वहाँ जाकर देखा कि, दुग्धफेन-सदृश कोमल-स्वच्छ-शय्या पर गोपा गाढ़ निद्रा में पड़ी सो रही है। बाईं ओर छोटा बच्चा राहुल सो रहा है। कुछ देर तक अनिमिष लोचन से नवकुमार के स्वर्गीय-माधुर्य-पूर्ण वदन को देख, राजकुमार ने कहा, यह शिशु जिस अलौकिक माधुर्य्य का अधूरा प्रतिविम्ब भाग है, वह न जाने कितना मनोहर होगा! इसी प्रकार गोपा के विषय में विचार कर, फिर मन ही मन

पिता माता के चरणों को प्रणाम कर, उनसे अनुमति माँग और सब को छोड़, केवल छन्दक को साथ ले, राजकुमार २६ वर्ष की अवस्था में अनित्य संसार को छोड़, नित्य पदार्थ की खोज में घर से बाहिर निकला। कई घण्टे तक घोड़ो को भगा कर, वह अनोमा नाम की नदी के तट पर सूर्योदय वेला में पहुँचा। वहाँ पहुँच कर वह घोडे से उतर पड़ा और सारे आभूषण और बहुमूल्य वस्तु छन्दक को दे कर उससे बोला:—

राजकुमार—तुम हमारे माता पिता के दुःख को दूर करना।

यह कह कर, राजकुमार ने छन्दक को वहाँ से विदा किया। जिस स्थान पर सिद्धार्थ ने छन्दक को विदा किया था उस स्थान को आज तक लोग छन्दक-निवर्त्तक कहते हैं और यह स्थान एक वटवृक्ष के नीचे है। चीन के सुप्रसिद्ध पर्यटक फाहियान ने अपनी यात्रा-पुस्तक में लिखा है कि, 'जब मै कुशी[1] नगर की ओर जा रहा था, तब रास्ते में सघन वृक्षो से आच्छादित एक वन के एक भाग में एक कीर्त्तिस्तम्भ देखा।"

छन्दक के चले जाने पर सिद्धार्थ निष्कण्टक हुए। अनन्तर उन्होंने अपने हाथ से अपनी तलवार द्वारा सिर के काले काले सुन्दर केशो को काट डाला। इस प्रकार जब वे वहाँ से कुछ दूर आगे गये, तब रास्ते में उन्हें एक बहेलिया मिला। उन्होंने उसको अपने वस्त्र दे दिये और उसके वस्त्र स्वय पहन लिये। कैसा भयानक परिवर्त्तन है! सूर्योदय के पूर्व जो राजराजेश्वर थे, वे सर्वसाधारण के मङ्गल के लिये, सब को मुक्त-पथ बतलाने के

---

१ यह कुशी नगर वर्त्तमान गोरखपुर के पूर्व-दक्षिण भाग में गोरखपुर नगर से पचास कोस के अन्तर पर है।

लिये, अपने आप अपनी इच्छा से आज रास्ते के भिखारी बन गये! पिता का अतुल वैभव छोड़ा. राज्य छोड़ा, रूप यौवन सम्पन्ना प्राणसमा भार्य्या छोड़ी और नवजात पुत्र छोड़ा। इन सब को छोड़ और संसार के बन्धनो से मुक्त हो, उन्होंने संन्यास धर्म को ग्रहण किया।

संन्यास-धर्म ग्रहण और साधन

सिद्धार्थ दरिद्र वेश धारण कर, इधर उधर घूमते फिरते वैशाली[1] नामक नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होने अड़ार नामक पण्डित के पास हिन्दू शास्त्रादि पढ़े। वहाँ जब उनका मन सन्तुष्ट न हुआ; तब वे राजगृह[2] में जा कर रुद्रक नामक एक ऋषि के शिष्य हुए। उस समय राजगृह में विश्वसार राजा की राजधानी थी।

सिद्धार्थ अड़ार और रुद्रक से शास्त्र और योग प्रणाली सीख कर कौण्डन्य, वापा, भद्राश्व, महानाद और अश्वजित् नामक पाँच शिष्यो के सहित गया ज़िले के अन्तर्गत उरुविल्व

---

१ आजकल जो स्थान बदरिकाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है; उसके पास का नगर वैशाली कहा जाता है। किन्तु पुरातत्वान्वेषी केनिङ्गहम साहब का मत है कि, वैशाली नगर पाटलिपुत्र (पटना) के उत्तर में है और उसका वर्त्तमान नाम विसार है। यही ठीक भी जान पड़ता है।

२ प्राचीन समय में राजगृह जरासन्ध की राजधानी थी, जिसको इसके जन्म की कथा देखनी हो, वह हमारा सग्रहीत भागवतसग्रह या संक्षिप्त विष्णु-पुराण देखे। मूल्य दोनों का ॥) आठ आने है। राजगृह जाने के लिये बख़्तियार-पुर रेलवे स्टेशन पर उतरना चाहिये। यह गया-लाइन में है।

नामक ग्राम में गये। सिद्धार्थ इस ग्राम की अपूर्व शोभा देख, मुग्ध हुए और उस स्थान को शान्तिपूर्ण एवं तपस्या योग्य देख, जन-कोलाहल-शून्य नैरञ्जन नामक नदी के तट पर बैठ, घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार उन्होंने छः साल व्यतीत किये। कहा जाता है, इस बीच में उन्होंने कभी तिल; कभी चाँवल खा कर, छः वर्ष व्यतीत किये। तपस्या करते करते उनके दिव्य लावण्यमय शरीर में हड्डी हड्डी ही रह गयी। इतने दिनों तक घोर तपस्या करने पर भी जब उन्होंने देखा कि, हमारा उद्देश्य पूरा नहीं हुआ और इस प्रकार आचरण करने से अभिलाषा पूरी हुए बिना ही शरीर के छूट जाने का भय है, तब उन्होंने कुछ कुछ भोजन करने आरम्भ किये। उरुबिल्व ग्राम–वासिनी स्त्रियाँ प्रायः उनके दर्शन करने के लिये जाया करती थीं। वलगुप्ता, प्रिया, सुप्रिया, उलूविल्लिका, सुजाता आदि कई एक वयोवृद्धा स्त्रियाँ उनके आहार का प्रबन्ध किया करती थीं। सिद्धार्थ का शरीर भोजन करते करते पूर्ववत् बलिष्ठ हो गया। उनके साथ पहले जो पाँच शिष्य आये थे; उन्होंने जब गुरु को इस प्रकार खानपान में अनुरक्त देखा, तब गुरु की अवज्ञा कर और उन्हें छोड़, वे चले गये।

सिद्धि

जब सिद्धार्थ के पाँचों शिष्य उनकी अवज्ञा कर चले गये, तब वे हतोत्साह हुए। उस समय उनके मन पर नाना प्रकार की चिन्ताओं ने आ कर अधिकार कर लिया। राज्य, ऐश्वर्य, धन, गौरव, संसार-सुख, आत्मीय-स्वजन आदि उनके सामने आकर उपस्थित हुए। पिता का आन्तरिक कष्ट, और प्रेममयी गोपा का विरह-क्लेश उनके मन को चञ्चल करने लगा। यद्यपि उनका

मन चञ्चल था, तथापि वे अपने संकल्प से तिल भर भी च्युत न हुए। उन्होने अन्त में इन सब विघ्न बाधाओ को हटा कर, उरुबिल्व ग्राम से कुछ दूर एक सघन वटवृक्ष के नीचे अपना आसन जमाया और बड़े यत्न और महोत्साह के साथ वे फिर घोर तपस्या करने लगे। भक्तवत्सल दयामय ने जिस समय अपने भक्त को परीक्षा कर यह बात जान ली कि, यह अपने संकल्प पर दृढ़ है, उस समय उन्होंने सिद्धार्थ के हृदय से अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर, ज्ञानरूपी ज्योति के प्रकाश से उसका हृदय जगरमगर कर दिया। इससे उनके सुख का निर्वाण, दुःख का निर्वाण, इन्द्रियो का निर्वाण और इच्छा का निर्वाण हुआ। उनको बोद्धत्व प्राप्त हुआ। जिस वटवृक्ष के नीचे तपस्या कर उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी, उस वृक्ष का नाम "बोधि-वृक्ष" पड़ा। सिद्धार्थ ने शाक्यवंश में श्रेष्ठपद प्राप्त कर 'शाक्यसिंह" की और बोद्धत्व प्राप्त कर " बुद्धदेव " की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

धर्म-प्रचार

बुद्धदेव स्वयं मुक्त हो कर, दूसरे उद्देश्य को साधने के लिये यत्न करने लगे। उनका दूसरा उद्देश्य यह था कि, अज्ञानियो को मोक्षमार्ग दिखलावें। इस उद्देश्य के साधने के लिये वे मृगदाव (वर्त्तमान सारनाथ) में गये और अपने पहले पाँच शिष्यो को नये धर्म में दीक्षित किया। उनको दीक्षित होते देख अन्य ६० मनुष्य उनके शिष्य और हुए। बुद्धदेव ने आरम्भ ही में शिष्य-संख्या अधिक देख प्रसन्न हो शिष्यो को बौद्धधर्म के प्रचार की आज्ञा दी। धर्मप्रचार के समय शिष्य कहते थे कि आत्मोत्कर्ष की साधना ही बौद्धधर्म का उद्देश्य है। इस उद्देश्य को सिद्ध करने के

लिये, दयावृत्ति की परिचालना आवश्यक है। सद्दृष्टि, सत्-संकल्प, सद्वाक्य, सद्व्यवहार, एवं सदुपाय द्वारा आजीविका करना आवश्यक है। ऐसा करने में मनुष्य धर्मपथ पर अग्रसर हो सकता है। बौद्धधर्म में जाति पाँति का विचार नहीं। क्या ब्राह्मण, क्या क्षत्रिय क्या वैश्य, क्या शूद्र सभी को आत्मोत्कर्ष के साधन के लिये एक जाति होना आवश्यक है।

अपने शिष्यों को धर्मप्रचार की आज्ञा दे, बुद्धदेव स्वयं राजा बिम्बसार के पास गये और अपनी युक्तियों से उन्हें समझा अपना शिष्य बनाया। राजा को नये धर्म में दीक्षित देख, उनके राज्य में बसने वाले सैकड़ों हज़ारों लोग बुद्धदेव के अनुयायी बन गये। बुद्धदेव इस प्रकार अनेकों के अनुग्रह एवं अनेकों के कोप-भाजन बन कर, बड़े उत्साह के साथ नवीन धर्म का प्रचार करने लगे। महाराज शुद्धोदन ने अपने पुत्र का उत्कर्ष एव उसके दिव्य-ज्ञान-प्राप्ति का समाचार सुन कर उसे कपिलवस्तु में लाने के लिये, आठ दूत भेजे। किन्तु शाक्यसिंह के उपदेशों पर मुग्ध हो, वे आठों उनके शिष्य हो गये। इनमे कई तो उन्हींके साथ रहे और शेष कपिलवस्तु को लौट गये। इन दूतो मे महाराज शुद्धो-दन का एक मंत्री भी था, जिसका नाम चर्क था। वह मगध देश में हो कर, महाराज के पास पहुँचा। महाराज से उनके पुत्र का कुशलसंवाद कहते हुए चर्क ने कहा :—

चर्क—"महाराज! अब सिद्धार्थ राजभवन में न रहेगा, आप उसके रहने के लिये एक मठ बनवा रखिये। वह तीन चार मास के भीतर ही यहाँ आवेगा।

मंत्री की बात सुन महाराज ने न्यग्रोध नामक स्थान में एक सुरम्य मठ बनवा रखा।

मगध में बौद्धधर्म का प्रचार कर चुकने पर, बुद्धदेव कपिल-वस्तु को गये। जब वे स्वदेश में पहुँचे ; तब उनके दर्शनों के लिये हज़ारों मनुष्यों की भीड़ लगने लगी । महाराज शुद्धोदन अपने पुत्र का बहुत दिनो बाद मुख देख बहुत प्रसन्न हुए । सिद्धार्थ ने पिता की राजधानी में पहुँच कर भी राजभवन में पैर न रखा और पिता के बनवाये हुए मठ में वे रहने लगे ; तथा अयाचित दान-प्राप्ति द्वारा जीविका निर्वाह करने लगे।

बहुत दिनो बाद स्वामी के आने का समाचार सुन, गोपा दो दासियो को साथ ले न्यग्रोध मठ में गयी। वहाँ अपने प्राणों से बढ़ कर स्वामी को मूँड़ मुड़ाये एवं गेरुआ वस्त्र पहने हुए देख, बोलना तो जहाँ तहाँ रहा—गोपा रोने लगी। गोपा की सङ्गवाली दासियो में से एक ने सिद्धार्थ से कहा :—

दासी—देव ! जिस दिन से आप गये हैं, उसी दिन से आपकी यह पत्नी, इस यौवनावस्था में कठोर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर, अनखाये अनसोये किसी तरह दिन काटती है। इसके दारुण कष्ट को देख पत्थर भी पसीज उठता है । बहुत लोगों ने इसे इस कठोर मार्ग पर चलने से रोका भी, किन्तु फल कुछ भी न हुआ।

बुद्धदेव ने चुपचाप गोपा का वृत्तान्त सुना। अनन्तर उन्होंने उसके दग्ध-हृदय को धर्मोपदेश रूपी सुधा से सींच कर, तर किया। गोपा के आत्मसंयम करने पर, बुद्धदेव ने उसे भी अपनी चेली बना लिया।

एक दिन गोपा अपने पुत्र राहुल को सुसज्जित कर उससे कहने लगी :—

गोपा—तुम अपने पिता के पास जाकर अपनी पैतृक सम्पति का हाल पूँछ आओ।

राहुल माता के कथनानुसार एक दासी को साथ ले, पिता के पास गया। पास पहुँच कर उसने पिता को प्रणाम किया और उनसे कहा :—

राहुल—पितृदेव! आज मैं आपके दर्शन कर धन्य हुआ। माता ने आपके पास मुझे इस लिये भेजा है कि, मैं आपसे पैतृक सम्पति सम्वन्धी विषय का ज्ञान प्राप्त कर आऊँ।

बुद्धदेव ने राहुल की बात को उड़ाने के लिये उससे इधर उधर की अनेक बातें करनी आरम्भ कीं। किन्तु राहुल वारवार वही बात उठाता था। तब उन्होंने सरीपुत्र नामक एक शिष्य को बुला कर कहा :—

बुद्धदेव—सरीपुत्र! राहुल अभी वहुत छोटा है। मैंने साधना द्वारा जो धन उपार्जन किया है, वह यदि इसे अभी दे दिया जायगा, तो यह उसे गवाँ डालेगा। अभी इसे उपदेश देना ठीक है। जब यह बड़ा हो जाय, तब इसे शिष्य बनाना ठीक होगा।

सरीपुत्र—आपका कहना बहुत ही ठीक है।

राहुल पिता से उपदेश ग्रहण कर, घर लौट गया। सिद्धार्थ ने लगभग डेढ़ मास उस मठ में रह कर, पिता तथा अन्य बन्धु-बान्धवों के साथ धर्मालाप कर, समय व्यतीत किया। अनन्तर धर्म प्रचार के लिये वे वहाँ से चल दिये। इसी समय सिद्धार्थ ने अपने चचेरे भाई आनन्द, देवदत्त, उपाली और अनिरुद्ध को नये धर्म में दीक्षित किया।

बुद्धदेव, वर्ष में आठ मास तो देश विदेश घूम फिर कर, धर्म प्रचार करते थे और वर्षाऋतु उपस्थित होने पर, चार मास किसी मठ में बैठ कर शिष्यो को उपदेश दिया करते थे। जिन दिनो वे श्रावस्ती नामक नगर के समीप पुरवाराम नामक स्थान में रहते थे ; उन दिनों एक धनी की कृष्णा नाम्नी पुत्रवधू का लड़का मर गया। सन्तान के प्रति माता का स्नेह अत्यन्त प्रबल होता है। उस समय स्नेहमयी जननी पुत्रशोक में नितान्त अधीरा हो, विलाप करने लगी और घर के लोग भी हाहाकार करने लगे। ठीक उसी समय उसके द्वार पर हाथ में कमण्डलु लिये एक भिक्षुक पहुँचा। उसे देख कृष्णा ने भय और लज्जा छोड़, उसके चरण पकड़ लिये।

कृष्णा—साधु ! आप दैवीबल से बली हैं। मेरे एकमात्र जीवन-सर्वस्व बालक का दुर्दान्त काल ने सर्वनाश किया है। आप मंत्रबल से उसे जीवित कर दीजिये।

भिक्षुक—साध्वि ! मरे हुए को जीवित करने की क्षमता अब भी मुझमें नहीं आयी। किन्तु यदि तुम अपने मरे हुए पुत्र को हमारे गुरुदेव के पास ले चलो, तो वे इसे सञ्जीवनी ओषधि दे कर, जीवित कर सकते हैं।

कृष्णा अपने मरे पुत्र को ले बुद्धदेव के पास गयी और उनसे सारा हाल कह सञ्जीवनी ओषधि माँगी। बुद्धदेव ने कृष्णा को आश्वासन दे कर कहा :—

बुद्धदेव—बेटी ! मैं इसकी एक बहुत ही अच्छी ओषधि जानता हूँ, किन्तु मेरे पास एक वस्तु नहीं रही। यदि

तुम उसे ले आओ, तो तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जाय।

कृष्णा (व्यग्र होकर) प्रभो ! वह कौन सी वस्तु है ? मेरे घर में किसी वस्तु का अभाव नहीं है। स्वर्ण, रौप्य, हीरा आदि जो आप बतलावें मैं वही ले आऊँ।

बुद्धदेव—हमें इन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं। एक मुट्ठी सरसों ले आने ही से तुम्हारा पुत्र जी जायगा, किन्तु एक बात है, यदि तुम ऐसे घर की सरसो लायीं कि, जिस घर में कभी कोई मरा हो, तो फिर तुम्हारा मनोरथ पूरा न होगा।

कृष्णा सरसों लेने के लिये चल दी। पुत्र को जीवित कराने की आशा से, वह लोकलज्जा, मानसम्भ्रम को भूल, पागलिनी की तरह सब गृहस्थों के द्वार द्वार, नगर नगर, ग्राम ग्राम, एक मुट्ठी सरसो के लिये घूमी, किन्तु जैसो सरसो चाहिये थी, वैसी न मिली। वह जिस घर के द्वार पर जाती और सरसो माँगती वह उसके सामने सरसों के ढेर लगा देता, किन्तु जिस समय वह पूँछती कि, तुम्हारे घर में दास, दासी, पुत्र, पौत्र अथवा कुटुम्बियो में कभी कोई मरा तो नहीं, उस समय कोई कहता मेरा बालक मर गया, कोई कहती मेरा पति मर गया, कोई कहता मेरा भाई मर गया। कृष्णा ने सब जगह इस प्रकार की शोक-वार्त्ता तो सुनी; पर वह बुद्धदेव की बतलायी हुई सरसों न ला सकी। अन्त में उदास हो वह बुद्धदेव के पास गयी। बुद्धदेव ने उससे पूँछा :—

बुद्धदेव—बेटी ! सरसों लायी ?

कृष्णा (दुःखित हो) प्रभो ! आप जैसी सरसो चाहते हैं ; वैसी सरसो तो कहीं नहीं मिलती ।

बुद्धदेव—बेटी ! केवल तुम्हारा ही अकेला पुत्र मरा हो—यह बात नहीं है । इस प्रकार अनेक जननी पुत्र-हीना हो शोक-सागर में निमग्न हैं । इस लिये शोक एवं ताप को भूल कर, तुम भी जरा-मरण-व्याधि के हाथ से परित्राण पाओ ।

बुद्धदेव के वाक्यो का सुन कृष्णा पुत्र-शोक को भूल कर, कहने लगी :—

कृष्णा—प्रभो ! मैं आपके शरणापन्न होती हूँ ।

तब बुद्धदेव ने उसे अपने नव प्रचारित धर्म में दीक्षित किया ।

एक दिन बुद्धदेव हाथ में कमण्डलु ले भिक्षा माँगते हुए भरद्वाज नामक एक बनिये के द्वार पर पहुँचे । भरद्वाज ने बुद्धदेव को भिक्षा माँगते देख, उनसे कहा :—

भरद्वाज—श्रमन* ! तुम इतने हट्टे कट्टे हो कर भीख माँगते द्वार द्वार क्यो घूमते हो ? तुम स्वयं परिश्रम न करके दूसरों का परिश्रम पूर्वक उपार्जित अन्न अनायास लेना चाहते हो ! क्या तुमको यह नहीं मालूम कि कितना परिश्रम करने पर अन्न उत्पन्न होता है ? हम लोग प्रचण्ड सूर्य्याताप एवं मूसलाधार वर्षा सह कर, खेत जोतते बोते है, तब कहीं अन्न

*बौद्ध साधुओं को "श्रमन" कहते हैं ।

उपजता है। तुमको उचित है कि हम लोगों की तरह तुम भी परिश्रम करो। यदि तुम्हारा जैसा बलवान् पुरुष भी परिश्रम न करके, भिक्षा माँगे, तो बेचारे अङ्गहीन असमर्थ पुरुष क्या करेंगे! मैं तुम्हें एक खेत देता हूँ उसमें अन्न उत्पन्न कर तुम अपना निर्वाह करो।

बुद्धदेव—आपका कहना सत्य है। हम भी किसान हैं, किन्तु हमारी खेती की भूमि और उसे जोतने बोने की विधि स्वतंत्र है। मानव-हृदय हमारा खेत है, ज्ञान हमारा हल है, विनय उस हल की फाल है और उत्साह एव उद्यम बैल हैं। हृदय रूपी भूमि को जोत कर हम उसमें विश्वास रूपी बीज बो देते हैं। तब उससे निर्वाण रूपी फसल उत्पन्न होती है। उसी फसल की कमाई से हम तृप्त होते हैं।

भरद्वाज, गौतम[1] का महदर्थ बोधक वाक्य सुन, लज्जित हुआ और पूर्वकथित कठोर वचन कहने के लिये क्षमा माँगी। अन्त में वह बुद्ध का शिष्य भी हो गया।

जिन दिनो बुद्धदेव धर्म प्रचार के लिये देशाटन कर रहे थे, उन दिनों उन्होंने सुना कि उनके पिता शुद्धोदन किसी साङ्घातिक रोग से पीड़ित हैं। यह सुन वे शिष्यों सहित पितृदेव के दर्शन

---

१ महाराज शुद्धोदन की दूसरी रानी का नाम गौतमी था। मायादेवी की मृत्यु के पश्चात् गौतमी ही ने सिद्धार्थ को पुत्रवत् पाला पोसा था और उस पर वह पुत्रवत् ही स्नेह किया करती थी। इससे सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम था और यही गौतम, गौतम बुद्ध के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है।

करने के लिये कपिलवस्तु की ओर प्रस्थानित हुए। जिस समय वे राजभवन में पहुँचे, उस समय महाराज शुद्धोदन अचेतावस्था में पर्य्यङ्क-शायी थे। अन्तिम काल में पुत्र को सामने देख, महाराज सचेत हुए और उनके शरीर में बल का सञ्चार हुआ। वे मृत्युशय्या पर पड़े पड़े पुत्र के मुख से धर्मामृत-पान करते करते इस विनाशी पञ्चभौतिक शरीर को परित्याग कर अमरत्व को प्राप्त हुए। बुद्धदेव ने पिता की अन्त्येष्टिक्रिया की और अपने पुत्र राहुल, सौतेले भाई नन्द, मौसी एवं शाक्य-वंशीय अन्यान्य व्यक्तियों को बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी। गोपा तो पहले ही दीक्षिता हो चुकी थी, इस बार उसे उन्होंने पुरवासिनी स्त्रियों की नेत्री बनाया। इतना काम कर, गौतमबुद्ध राजगृह की ओर चल दिये।

देह-त्याग

बुद्धदेव ने ४५ वर्ष तक धर्म-प्रचार कर अस्सी वर्ष की अवस्था में और ५३४ वर्ष ईसा के जन्म के पहले, कुशीनगर में, एक शालवृक्ष के नीचे बैठ कर, उदरामय रोग से तनुत्याग किया। एक बार वे शिष्यों सहित राजगृह से कुशीनगर की ओर जा रहे थे; रास्ते में अचानक उनके उदर में रोग उत्पन्न हो गया। बुद्धदेव को यह विदित होगया कि, यही रोग उनके जीवन रूपी दृश्य का अन्तिम पटाक्षेप करेगा। इसीसे उन्होने शिष्यो को आगे जाने का निषेध किया। शिष्यो ने एक शालवृक्ष के नीचे गुरु-देव के लिये बिछौने बिछा दिये और वे उनकी यथोचित सेवा करने लगे; किन्तु फल कुछ न हुआ। वे धीरे धीरे निर्बल होते चले गये। बुद्धदेव ने अन्तिम समय अपने शिष्यो को बुला कर नीचे लिखे चार उपदेश दिये :—

[१] हे वत्सगण ! चक्षु, कर्ण, नासिका एवं जिह्वा को अपने वश मे रखना। इन्द्रियों को दमन कर लेने पर, निर्वाण राज्य में तुम शीघ्र ही पहुँच सकोगे।

[२] हे भिक्षुकगण ! तुम अपने को स्वयं जाग्रत करना, अपनी परीक्षा अपने आप करना। इस प्रकार सतर्क रहने से और कर्त्तव्य-परायण होने पर तुम सदा सुखी रहोगे। पापकर्म न करना, सत्कर्म मे लगे रहना और दूसरो के हृदय को सशोधित करते रहना।

[३] जैसे जल द्वारा उत्पन्न कीचड, जल ही से धोई जाती है, वैसे ही मानसिक पाप भी उत्पन्न होने पर, मन के द्वारा ही विनष्ट होते हैं।

[४] जैसे मनुष्य शरीर की छाया, शरीर को नहीं छोड़ती, वैसे ही जिसका विचार, वाक्य और कर्म पवित्र हैं, उसको सुख एवं शान्ति कदापि नहीं छोड़ती।

ये चार उपदेश अपने शिष्यो को दे, बुद्धदेव ने योगविद्या द्वारा तनुत्याग किया। उनके शिष्यो ने चन्दन की चिता बनायी और गुरु को प्रणाम कर, उस पर उन्हें लिटा दिया। जिसने अतुल ऐश्वर्य का अधीश्वर होने पर भी, जीव की मुक्ति के लिये; राज्य, पद एव गौरव को तुच्छ समझा, उसीका शरीर आज भस्म में परिणत होने को तैयार है। शिष्यों ने तीन बार चिता की परिक्रमा की, फिर महाकाश्यप एवं अन्यान्य मान्य शिष्यो की अनुमति ले कर, उन लोगों ने चिता को प्रज्वलित किया। देखते

देखते बुद्धदेव का नश्वर शरीर चिता सहित भस्म हो गया। भिक्षुको ने उस भस्म को सुवर्ण पात्र में रखा और उसे राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अलकासुर, रामग्राम, उष्यदीप, पापा एवं कुशीनगर ले गये। इसके बाद उसे भूमि में गाड़ कर, उसके ऊपर पीपल का वृक्ष लगा दिया।

बुद्धदेव का क्षेम नामक एक शिष्य जो उनका एक दाँत कुशी-नगर में ले गया था, कुछ दिनो बाद उसने वह दाँत कलिङ्ग प्रदेश के राजा ब्रह्मदत्त को दिया। ब्रह्मदत्त के वंशधरो ने उस दाँत को जम्बूद्वीप के राजा पाण्डु को दिया। पाण्डु की मृत्यु होने पर, वह गुरुसिंह को मिला। गुरुसिंह ने उस दाँत को अपने जामाता और सिंहल के अधिपति मेघवाहन के पास उपहार स्वरूप भेज दिया। मेघनाद ने उस दाँत को कुछ दिनों तक अपने पास रखा। पीछे से उसने सन् १२६८ ई० में सिंहलद्वीप अर्थात् लङ्काद्वीप के काण्डी नगर में एक मन्दिर बनवा कर, उस दाँत की वहाँ प्रतिष्ठा कर दी[1]।

इसी दाँत को देखने के लिये महाराज सप्तम एडवर्ड काण्डी नगर में गये थे। बहुत से लोगो का मत है कि. काण्डी नगरस्थ बुद्ध का दाँत, मनुष्य का दाँत नहीं है, वह घड़ियाल का दाँत है।

शाक्यसिंह यद्यपि एक समादृत राजकुल में जन्मे थे, किन्तु उनका जन्म एक वृक्ष के नीचे हुआ था, तपस्या भी उन्होंने वृक्ष के नीचे बैठ कर की और शरीरत्याग भी एक वृक्ष के नीचे किया। बाल्यावस्था से लेकर शरीरत्याग पर्य्यन्त क्रम से उन्होने पितृ-मातृ-भक्ति, विभवस्वत्व का त्याग, वैराग्य, ईश्वरप्रेम,

---

१ इस विषय में पुरातत्वविदों में कुछ मतभेद भी है।

नि:स्वार्थ भाव से परोपकार; अमानुषिक क्षमता, एवं सत्वगुणों की रक्षा करके, जीव की मुक्ति के लिये एक नये धर्म का प्रचार किया।

उस समय उनका प्रचारित धर्म ऐसा मनुष्य-हृदय-ग्राही था कि, उनके समय में अन्य सारे धर्म निस्तेज एवं प्रभाहीन पड़ गये थे। बुद्धदेव को निर्वाण प्राप्त किए लगभग २४५० वर्ष बीते, किन्तु आज भी करोड़ों मनुष्य उनके धर्म के मानने वाले विद्यमान हैं।

बौद्ध-धर्म-शास्त्र की उत्पत्ति

बुद्धदेव जब तक जीवित रहे, तब तक उनका प्रचारित धर्म शिष्यों के मुख में था। उनके परलोक-गमन करने पर राजगृह में उनके पाँच सौ शिष्य एकत्र हुए और बौद्ध-धर्म-शास्त्र सङ्कलन किये। उन्होंने अपने गुरु के उपदेशो को तीन भागो में विभक्त किया। अर्थात् १ सूत्र, २ नियम, ३ अभिधर्म।

[१] "सूत्र"—अर्थात् बुद्धदेव ने स्वयं जो उपदेश शिष्यों को दिया वह सूत्र कहलाया।

[२] "नियम"—अर्थात् बौद्ध-समाज के लिये शासन सम्बन्धी नियम।

[३] "अभिधर्म" या "धर्मनीति"। इसके अन्तर्गत दार्शनिक विचार, मीमांसा आदि विषय समझने चाहिए।

बौद्ध-धर्म-शास्त्र के इन तीन खण्डों को "त्रिपटक" कहते हैं।

सङ्गीति

बुद्धदेव के देह-त्याग कर चुकने पर, उनके शिष्यों ने त्रिपटक बनाने के लिये एक सभा की थी। धर्मप्रचारक काश्यप

उस सभा का सभापति हुआ था। काश्यप, सूत्र-पिटक का, आनन्द, नियम-पिटक का एवं उपाली, अभिधर्म-पिटक का संग्रह-कर्त्ता है। बौध-धर्म की सभा का नाम सङ्गीति है। प्रथम सङ्गीति के सौ वर्ष बाद सङ्गीति का दूसरा अधिवेशन वैशाली में हुआ। इस अधिवेशन में सात सौ बौद्ध एकत्र हुए थे। इन सौ वर्षों के भीतर बौद्ध धर्मावलम्बियों के बीच अनेक प्रकार के मतभेद एवं विरोध उत्पन्न होगये थे। उन मतभेद एव विरोधो को मिटाने के लिये सङ्गीति का दूसरा महाधिवेशन किया गया था। किन्तु परिश्रम सफल न हुआ। बौद्ध-धर्म दो प्रतिद्वन्दी सम्प्रदायो में बट गया। अन्त में इनमें छोटे छोटे और अठारह दल बने। महाराज अशोक के समय, ईसा के जन्म के २४३ वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र (पटने) नगर में सङ्गीति का तीसरा महाधिवेशन हुआ। इस महाधिवेशन में एक हज़ार बौद्ध पुरोहित एकत्रित हुए थे। कुछ धूर्त्तों ने बौद्धों के पवित्र हरिद्रावर्ण के वस्त्र धारण कर, अपने कपोलकल्पित धर्म को बुद्धदेव का धर्म बतला कर, उसका सर्वसाधारण में प्रचार किया था। इस सङ्गीति में उसी समुदाय का संशोधन किया गया था। ईसा के ४०वें वर्ष में कनिष्क के राजत्व काल में बौद्धो की सङ्गीति का चतुर्थ या अन्तिम अधिवेशन हुआ; जिसमें बौद्ध पुरोहितो ने एकत्र हो कर, धर्मग्रन्थ की तीन टीकाये उपस्थित कीं।

बौद्धधर्म के अधिक प्रचार का कारण

महाराज अशोक और कनिष्क के उत्साह से बौद्ध धर्म परिपुष्ट और विस्तृत हुआ। सन् २५७ ई० में मगधराज अशोक ६४,००० बौद्ध याजकों का भरणपोषण करते थे और चौरासी हज़ार स्तूप निर्माण करा कर, अशोक ने बौद्धधर्म की महिमा को

घोषणा कराई थी। रोमदेशाधिपति कनस्टान्टाइन जिस प्रकार खीष्ट धर्म को सहायता करते थे, उसकी अपेक्षा सहस्रगुण अधिक बौद्ध धर्म के प्रचार में ये सहायक थे। उन्होंने नीचे लिखे पांच उपायों द्वारा बौद्धधर्म के फैलाने में सफलता प्राप्त की थी।

१—धर्म सम्बन्धी मतभेद की मीमांसा के लिये एक राजकीय सभा स्थापित की।

२—अनुशासन-पत्र द्वारा धर्मनीति की व्याख्या की।

३—धर्म की विशुद्धता की रक्षा के लिये एक राजकीय धर्म विभाग खोला।

४—प्रचारकों को दूर दूर देशों में भेज बौद्ध-धर्म का प्रचार कराया।

५—अपने प्रवन्ध से और अपनी देखरेख में, योग्य व्यक्तियों द्वारा धर्मशास्त्रों की परिशुद्धि करायी।

अशोक के समय में लङ्काद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार था। अशोक के राजत्वकाल में सिंहलद्वीप से बौद्धधर्म के प्रचारक ब्रह्मदेश में गये। सन् ६३८ ई० मे श्यामदेशवासियों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया। इससे कुछ पहले बौद्धधर्म के प्रचारकों ने यवद्वीप (जावा) में पहुँच कर, बौद्धधर्म की जयपताका गाड़ दी थी। धीरे धीरे ये धर्मप्रचारक तिब्बत, मध्यएशिया के दक्षिणी भाग में और चीन मे पहुँचे थे। सन् ३७२ ई० में कोरिया वालों ने इस धर्म को अङ्गीकार किया। सन् ५५२ ई० में कोरिया के धर्म-प्रचारक जापान में पहुँचे और वहां के निवासियों को अपने में मिलाया। सुना जाता है बौद्ध-धर्म का

पेलेस्टाइन, एलक्ज़ेण्ड्रिया, ग्रीस एवं रोम में भी डंका पिट चुका था।

विभक्त बौद्ध सम्प्रदाय

बौद्धो के एक ही गुरु होने पर भो उनमें श्रेणीभेद विद्यमान है। यह धर्म चार सम्प्रदायो में विभक्त है :—

१ माध्यामिक।

२ योगाचार।

३ सौत्रान्तिक।

४ वैभाषिक।

(१) माध्यमिकों के मतानुसार सब शून्य है, जगत् में कुछ भी नहीं है। इनकी मीमांसा बड़ी विलक्षण है। ये लोग जगत् को मिथ्या मानते हैं। क्योंकि जो वस्तु जाग्रत अवस्था में दिखलायी पड़ती है वह स्वप्नावस्था में दिखलायी नहीं पड़ती और जो स्वप्नावस्था में दिखलायी पड़ती है वह जागने पर नहीं दीखती। इसीसे उन लोगो ने जगत् को मिथ्या मान रखा है*।

(२) योगाचारी वाह्यवस्तु को झूठी और क्षणिक वतलाते है। विज्ञानरूप आत्मा ही, उनके मत में साक्षात् रूप से प्रतिपन्न होता है। यह विज्ञान दो प्रकार का है ; प्रवृत्ति और आलय· जाग्रत या सुप्त अवस्था में जो ज्ञान उत्पन्न होता है-उसे प्रवृत्त विज्ञान एवं सुपुप्ति दशा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे आलय-विज्ञान कहते हैं।

---

* बौद्धधर्म के वाद जब शङ्कराचार्य हुए ; तब उनको भी जगत् मिथ्या मानना पड़ा था।

(३) सौत्रान्तिकों के मतानुसार वाह्यवस्तु सत्य और अनुमान सिद्ध है।

(४) वैभाषिक लोग वाह्यवस्तु को प्रत्यक्ष सिद्ध बतलाते हैं।

बौद्ध-धर्म्म में मुमुक्षुओं की चार और अवस्थाएँ हैं। यथाः—

१—अर्हत।
२—अनागामी।
३—सकृदागामी।
४—शोतापत्ति।

१ जीवनमुक्त को "अर्हत" कहते हैं। २ जिनको इस देह को त्यागने के अनन्तर फिर जन्म ग्रहण न करना पड़े और मरते ही निर्वाण फल लाभ हो, उनको "अनागामी" कहते हैं। ३ जो एक जन्म और धारण कर, निर्वाण के अधिकारी होंगे, उनको "सकृदागामी" कहते हैं। ४ धर्मजीवन की चतुर्थ अवस्था का नाम "शोतपत्ति" है। इस अवस्था में उपनीत होने पर, जीव सात जन्म बाद निर्वाण पदवी को प्राप्त होता है।

अर्हतों को पाँच प्रकार के अनुष्ठान करने पड़ते है। यथाः—

१ अहिंसा ३ सूनृत
२ अस्तेय ४ ब्रह्मचर्य्य
५ अपरिग्रह।

१ जीवधारियों को न मारना अहिंसा है। २ अदत्तवस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय है। ३ सत्य, हितकर एवं प्रिय बोलना, सूनृत कहलाता है। ४ काम क्रोधादि के परित्याग को ब्रह्मचर्य्य एवं ५ सकल विषयों का मोह त्यागना अपरिग्रह कहलाता है।

अर्हतो में और भी अवान्तर भेदो के अनुरूप कई एक दल हैं, जिनमे से एक का नाम जैन है।

बुद्धदेव के वचन

(१) अज्ञानी का अनुगामी न बनना और ज्ञानी की सेवा करना एव माननीय व्यक्ति का सम्मान करना परम धर्म है।

(२) हृदय में साधु इच्छा का पोषण करना ही परम धर्म है।

(३) आत्मसंयम और प्रियवचन बोलना ही परम धर्म है।

(४) माता पिता की सेवा करना परम धर्म है।

(५) स्त्री एव पुत्र को सुखी रखना एवं शान्ति का अनुसरण करना परमधर्म है।

(६) पाप कर्म से दूर रहना और उससे घृणा करना, मादक वस्तुओ को छोड़ना और सत्कार्य में कभी परिश्रान्त न होना मनुष्य का धर्म है।

(७) श्रद्धा, विनय, सन्तोष, कृतज्ञता को धारण करने एवं यथासमय धर्मतत्व को सुनने से यथार्थ शान्ति प्राप्त होती है।

(८) कष्टसहिष्णुता और दीनता ग्रहण, साधुसङ्ग और धर्मचर्चा करना यथार्थ सुख है।

(९) जीवन के परिवर्तनो और विचित्र घटनावली में पड़ जिसका चित्त विचलित नहीं होता और जो शोक दुःख में समान रहता तथा जो इन्द्रियातीत है वही धर्म्मात्मा है।

(१०) साधु वह है जिसका प्रत्येक सिद्धान्त पर्वत की तरह अटल अचल है और जो सदा निरापद रहता है।

(११) मन को वश में करना मनुष्य का प्रधान कार्य है। क्योंकि यह क्षण भर में कहाँ चला जायगा और कहाँ से लौट आवेगा; यह कोई नहीं कह सकता। अतः चित्त को अपने वश में करना परम सुखदायक है।

(१२) जो मनुष्य मीठी बातें करता और ऊपरी साधु बना हुआ हो, किन्तु साधुओं जैसा कर्म नहीं करता उसका साथ छोड़ देना चाहिये।

(१३) पाप को सामान्य अथवा छोटा न समझना चाहिये। जो कोई यह सोचता है कि पाप हमारा क्या बिगाड़ सकता है, वह भूलता है। क्योंकि पानी पर उतराते हुए जलपात्र में यदि ज़रा सा भी छेद हो जाय, तो उसके द्वारा उसमें धीरे धीरे जल घुस जाता है और उसे डुबो देता है।

(१४) वह वीर नहीं जो संग्राम में हज़ारों वीरों को जीत लेता है, किन्तु वीर वही है जो अपने मन को जीतता है।

(१५) धर्म के नियमों को कभी उल्लङ्घन न करना चाहिये। जो मनुष्य धर्म का एक भी नियम भङ्ग कर सकता है, वह मनुष्य सब पापकर्म कर सकता है।

(१६) अक्रोध द्वारा क्रोध को, साधुता से असाधु को और सत्य से मिथ्या को जीते।

(१७) सत्य बोलना, क्षमा और पात्र को दान देना, इन तीनों कार्य्यों से मनुष्य को बड़ा लाभ होता है।

(१८) जीवहिंसा करना, दूसरे का द्रव्य हरण करना, मिथ्या बोलना, मदिरा पीना, परस्त्रीहरण करना, ये सब महा-पाप हैं।

शंकराचार्य

केरल राज्य के अधिपति मृगनारायण ने पूर्णा नाम्नी नदी के तीर पर, कई एक शिवमन्दिर बनवाकर उनमें शिवलिङ्गों की प्रतिष्ठा की और उनकी पूजार्चनादि के लिये सर्व-शास्त्र-पार-दर्शी, विद्याधिराज नामक एक ब्राह्मण को नियुक्त किया। इसी ब्राह्मण के शिवगुरु नामक एक पुत्र जन्मा। शिवगुरु शैशवावस्था में माता पिता द्वारा बड़े लाड़ प्यार के साथ पाला पोसा गया और वय-प्राप्त होने पर कृतोपनय हो कर, शास्त्रालोचन करने के निमित्त गुरुगृह में वास करने लगा। कुछ दिन बीतने पर गुरु ने शिवगुरु की परीक्षा ली। उन्होने शिष्य को विद्यालाभ में कृतकार्य देख, उसे आज्ञा दी कि, अब तुम जाकर गृहस्थ हो और माता पिता की सेवा करो। शिवगुरु को गुरु ने जब यह आज्ञा दी, तब वह गुरु को गुरु-दक्षिणा दे अपने घर लौट गया। गुरु-गृह से पुत्र को विद्योपार्जन करने के अनन्तर लौटा हुआ देख, विद्याधिराज शास्त्री ने खोज कर शुभ लग्न में शिवगुरु का एक कन्या के साथ विवाह करवा दिया। शिवगुरु रूपवती, गुणवती एवं पतिव्रता भार्य्या को पा कर, दाम्पत्य-सुख-सम्भोग में समय बिताने लगा।

शङ्कराचार्य का जन्म

शिवगुरु की भार्या का नाम सुभद्रा था। एक दिन सुभद्रा अपने पति के पास बैठी हुई थी। उस समय दुखी हो वह कहने लगीः—

सुभद्रा—स्वामिन्! मेरा यौवन प्रायः बीत चुका है, किन्तु मैं

अद्यापि पुत्र-मुख-दर्शन से वञ्चिता हूँ। जिस रमणी की कोख से पुत्र नहीं जन्मता, उसे लोग वन्ध्या कहते हैं और उससे घृणा करते हैं। नाथ! पुत्र जब तोतली बोली से "माँ" "माँ" कह कर पुकारता है, तब जननी के हृदय में जो आनन्द प्राप्त होता है उसे तो मैंने जान भी न पाया। मैं ऐसी हतभागिनी हूँ कि, मैं इस रसास्वादन से वञ्चिता हूँ। नाथ! पुत्र-मुख-दर्शन कर के क्या मैं पुन्नाम नरक से उद्धार न होऊँगी। पुराणों में ऐसा लिखा है कि, जो भोलानाथ की आराधना करता है उसका मनोरथ कभी विफल नहीं होता, तो हम भी उनकी आराधना क्यों न करें।

शिवगुरु प्रणयिनी की इस प्रकार करुणापूर्ण एव खेदोक्ति सुनकर बड़ा मर्माहत हुआ। अनन्तर अपने मनोभीष्ट की सिद्धि के लिये उसने सपत्नीक सङ्कल्प किया और राजा द्वारा प्रतिष्ठित शिवालय में नित्य जाकर शूलपाणि महादेव की अर्चना करने लगा। कई एक वर्षों तक इस प्रकार शिवाराधन करते रहने पर एक दिन रात को शिवगुरु ने स्वप्न देखा कि, एक बूढ़ा ब्राह्मण उसके सिराहाने खड़ा कह रहा है-" बेटा! मैं तुम्हारी अर्चना से प्रसन्न हूँ। अब तुम वर माँगो।" शिवगुरु ने स्वप्नावस्था में यह वर माँगा कि, "हे देवादिदेव! मैं आपके समान गुणसम्पन्न एक पुत्र चाहता हूँ।" ब्राह्मण "तथास्तु" कह कर, अन्तर्धान हो गया। काल पाकर सुभद्रा गर्भवती हुई और शुभ लग्न मे चन्द्रमा के समान नेत्रानन्ददायी एक पुत्र जना। शङ्कर की आराधना से सुभद्रा के पुत्र हुआ था, इस लिये नवजात बालक का नाम शङ्कर रखा गया*।

---

* आनन्दगिरि कृत शङ्कर-दिग्विजय में शङ्कराचार्य की जन्म-कथा यों है-

शङ्कराचार्य की बाल्यावस्था

शङ्कराचार्य भूमिष्ठ होने के अनन्तर शुक्लपक्षीय चन्द्रकला की तरह दिनो दिन बढ़ने लगे। जब वे एक वर्ष के थे, तभी उन्होने मातृभाषा का अभ्यास किया। दूसरे वर्ष में

चिदम्बरेश्वरपुर में आकाश नामक एक शिवलिङ्ग था। विद्वान् महेन्द्र ब्राह्मण के कुल में सर्वज्ञ नामक एक पुत्र हुआ। उसका कामाक्षी नामक एक कन्या से विवाह हुआ। पति पत्नी दोनों चिदम्बरेश्वर के परम भक्त थे। उनकी कृपा से कामाक्षा के विशिष्टा नामक एक कन्या उत्पन्न हुई। आठवें वर्ष इसका विवाह विश्वाजित नामक ब्राह्मण के साथ किया गया। विवाह होने के पीछे भी जब वह शिवजी की सेवा ही में संलग्न रही, तब उसका पति उससे रूठ कर और उसे छोड़ वन में चला गया। वह पति के चले जाने पर भी शिव की पूजा पूर्ववत् करती रही और बहुत मोटी ताजी हो गयी। उसके कुछ दिनों बाद उसके गर्भ रहा। जब एक मास बीता, तब वह गर्भ उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। तब उसके पिता ने चिदम्बरेश्वर शिव को उसका पति मान, उसके गर्भाधानादि संस्कार किये। दशवें मास विशिष्टा के गर्भ से गोलक शङ्कराचार्य उत्पन्न हुए।

प्राप्ते तु दशमे मासि विशिष्टा गर्भगोलकः।
प्रादुरासीन्महातेजाः शङ्कराचार्य नामतः॥

गोलक किसे कहते हैं, इस बात को समझाने के लिये हम मनुस्मृति अध्याय ३ के १७४वें श्लोक को यहाँ उद्धृत करते हैं :—

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ।
अमृते जारजः कुण्डः मृते भर्त्तरि गोलकः॥

अर्थात् परस्त्रीगमन से जो सन्तान उत्पन्न होती है उन्हें कुण्ड और गोलक कहते हैं। पति के जीवित रहते हुए, दूसरे पुरुष के द्वारा जो पुत्र होता

माता के मुख से पुराणादि सुन कर, उन्होंने उन्हें कठ कर डाला। जब वे तीन वर्ष के हुए तब उनके पिता का शरीरान्त हुआ। चार वर्ष की अवस्था में शङ्कराचार्य में महेश्वर की सारी शक्ति प्रादुर्भूत होगयीं और वे महामहोपाध्याय उपाधिधारी महापण्डित के समान ज्ञानी एवं विद्वान् हो गये। पाँचवें वर्ष में उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया और वे स्वाध्याय के लिये गुरुगृह में जा बसे। छठवे वर्ष में शङ्कराचार्य सर्व-शास्त्र-विशारद और सर्वविद्यापारङ्गत हो सुपण्डित हो गये। छः वर्ष की अवस्था में शङ्कराचार्य वेद में ब्रह्मा के समान, तात्पर्य्यबोध में वृहस्पति के समान और सिद्धान्त में व्यास के समान हो गये थे[1]।

शङ्कराचार्य जिस समय गुरु-गृह में रहते थे, उस समय एक दिन वे भिक्षा माँगने के लिये निकले। इधर उधर घूमते फिरते वे अन्त में एक दरिद्र ब्राह्मण के घर में पहुँचे और भिक्षा माँगने

है, उसे "कुण्ड" और पति के मरने पर, जो सन्तान अन्य पुरुष से उत्पन्न होती है उसे गोलक कहते हैं। राजर्षि मनु ने इन कुण्ड और गोलक जन्मा अर्थात् क़लमी श्रामों को श्राद्ध आदि दैविक एवं पैतृक कर्मों में निमंत्रण तक देने का निषेध किया है। मनु का ३ अ० श्लोक १५६ द्रष्टव्य है।

१ सम्भव है आजकल नव-शिक्षा-प्राप्त नवयुवक शंकराचार्यकी असाधारण स्मरण शक्ति का वृत्तान्त पढ़, इस लेख को "चण्डू खाने की गप्पें" समझ लें, पर उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि, शंकराचार्य यदि साधारण होते तो वे इतना काम क्यों कर, कर सकते और हिन्दूधर्म का उद्धार क्यों कर होता? जब वे असाधारण मेधावी थे, तभी तो उन्होंने असाधारण काम किया और अकेले, भारतवर्ष भर से बौद्धधर्म को निकाल, सनातनधर्म की विजय पताका गाड़ दी।

लगे । वह ब्राह्मण भी दारिद्रय-दशा-प्रपीडित हो, भिक्षा माँगने बाहर गया हुआ था । ब्राह्मणपत्नी, भिखारी को द्वार पर देख अत्यन्त मर्माहत हुई और अधमरी सी होकर कहने लगी :—

ब्राह्मणी—वत्स ! हम लोग बडे अभागे हैं ; दैव की कृपा से वञ्चित हैं । भगवान् ने हमें भिक्षा भी देने योग्य नहीं बनाया—इससे मैं तुम्हें यह आँवला देती हूँ, इसे तुम ग्रहण करो ।

महात्मा शङ्कराचार्य ब्राह्मणी के ऐसे दीन और मर्मभेदी वचन सुन दया से पसीज गये । उसी समय वे पद्मालया कमला का स्तव पढ़ने लगे । हरिप्रिया शङ्कर के स्तव को सुन प्रसन्न हुईं और उनके सामने जा खड़ी हुई एवं शङ्कर से कहा—"वर माँगो ।" महात्मा शङ्कराचार्य ने कमला को सन्तुष्ट कर यह वर माँगा—" यह दरिद्र ब्राह्मण-दम्पति अतुल धन का अधीश्वर होकर सुख से समय बितावे ।" लक्ष्मी "तथास्तु" कह अन्तर्हिता हुई । अकस्मात् ब्राह्मणी को जहाँ पर्णकुटी थी वहाँ आकाशस्पर्शी अट्टालिका बनी । इस घटना से बिजली की तरह शङ्कर की क्षमता का समाचार चारो ओर फैल गया । राजा राजशेखर उस देश का राजा था और वह निस्सन्तान था । उसने शङ्कराचार्य की क्षमता का वृत्तान्त सुना और अयुत स्वर्णमुद्रा ला कर उसने आचार्य के चरणों पर चढायीं और साष्टाङ्ग प्रणाम किया । उस द्रव्य को तो उन्होंने न लिया और दरिद्रो को दिलवा दिया, किन्तु राजा को आशीर्वाद दिया । आशीर्वाद के प्रभाव से राजा राजशेखर को पुत्र का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

वैराग्य और संन्यास

शङ्कराचार्य जब आठ वर्ष के हुए तब उन्होंने सब साँसारिक सुखों को जलाञ्जलि दे दी और संन्यासी होने के लिये माता से अनुमति माँगी। सुतवत्सला जननी एकमात्र पुत्र को छोड़ किस प्रकार समय यापन करेगी—यही विचार वह विकल हुई। अतः संन्यासधर्म ग्रहण करने के पूर्व उसने पुत्र से कहा कि, तुम पहले गृहस्थ बनो। जब जननी ने आज्ञा न दी, तब शङ्कराचार्य ने एक कौशल रचा।

एक दिन माता, अपने पुत्र शङ्कराचार्य को साथ ले और नदी पार कर, किसी नातेदार के घर गयी। वहाँ से लौटते समय उसने देखा कि जिस नदी को जाते समय उसने अनायास पार किया था उस नदी में अब बाँसों ऊँचा जल चढ़ आया है। शङ्कराचार्य कुछ दूर जल में चल कर, गले तक जल मे पहुँचे। उस समय उन्होंने माता से कहा—"माता! यदि तुम मुझे सन्यासी होने की आज्ञा न दोगी, तो मैं अभी डूबा जाता हूँ।" यह सुन शङ्कर-जननी ने प्रत्यक्ष भय को देख, तुरन्त संन्यास ग्रहण की अपने पुत्र को आज्ञा दे दी।

शङ्कराचार्य जननी से आज्ञा ले पहले श्रीमत् गोविन्द स्वामी के शिष्य हुए। फिर वहाँ ब्रह्मत्व लाभ करके गुरु के आज्ञानुसार वे काशी गये। वहाँ पर चोलदेशवासी सनन्दन उपनाम पद्मपाद को सब से प्रथम अपना शिष्य बनाया।

एक दिन शङ्कराचार्य मणिकर्णिका घाट पर स्नान कर निदिध्यासन करते थे ; इतने में एक वृद्ध ब्राह्मण उनके सामने आ खड़ा हुआ और उनसे बोला—"तुमने ब्रह्मसूत्रों पर व्याख्या की

है ? अच्छा देखें तो। किसी किसी सूत्र के अर्थ लगाने में तो तुमको बड़ा कष्ट हुआ होगा।" यह सुन शङ्कर ने कहा—"यदि आप उस भाष्य का कोई स्थल न समझे हों तो बतलाइये हम उसका स्पष्टीकरण करके समझा दें।" इस पर उस वृद्ध ब्राह्मण ने यह सूत्र—"तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहतिसम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" पढ़ा और अर्थ पूँछा। दोनों ने दो प्रकार के अर्थ कहे। दोनो में वाक्-युद्ध होने लगा। यहाँ तक कि, शङ्कराचार्य ने वृद्ध ब्राह्मण के एक तमाचा मारा और अपने शिष्य पद्मपाद को आज्ञा दी कि "इस बूढ़े को यहाँ से हटा दो।" गुरु की आज्ञा सुन पद्मपाद ने आचार्य को नमस्कार किया और कहा —

"शङ्करः शङ्करः साक्षात् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किङ्करोम्यहम्॥"

अर्थात् महादेव और नारायण में जब विवाद हो रहा हो, तब यह दास क्या करे ? शङ्कराचार्य ने पद्मपाद की बात सुन व्यास जी की स्तुति की और उनसे क्षमा प्रार्थना की। व्यासदेव शङ्कराचार्य के स्तव को सुन उन पर प्रसन्न हुए और उनको वर दिया—"तुम ब्रह्मसूत्र के तात्पर्य के सहारे जगत में अद्वैतवाद का प्रचार करो।" इस पर शङ्कराचार्य ने कहा—"मैं अल्पायु होकर जन्मा हूँ। मेरी अवधि केवल सोलह वर्ष और है, अतः मेरे द्वारा अधिक भलाई क्या हो सकती है ?" व्यासदेव ने शङ्कर की बातें सुन कहा—"हे शङ्कर ! अब भी तुमको बहुत काम करने हैं। मीमांसा, न्याय, वेद, वेदान्त, व्याकरण, सांख्य, एवं योग में तुम्हारे समान भूमण्डल पर दूसरा नहीं है। हमारे बनाये बहुअर्थ और तात्पर्यगर्भित सब सूत्रों का, हमारे मन जैसा भाष्य तुम्हारे सिवाय दूसरा नहीं कर सकता। अतः

तुम सोलह वर्ष और जीवित रहो।" आयु बढ़ने पर शङ्कराचार्य ने एकादश उपनिषद्, गीता और वेदान्त का भाष्य, नृसिंहतापिनी व्याख्या और उपदेश सहस्रादि की रचना की और अद्वैतमत का प्रचार करने के उद्देश्य से वे काशी मे चल दिये।

धर्म प्रचार

शङ्कराचार्य ने काशी से चलते समय कर्मवापी, चन्द्रोपासक, ग्रहोपासक, त्रिपुरद्वेषी, प्रभृति विविध सम्प्रदायवालों को परास्त कर अपने मत को स्थापन किया। काशी से कुरुक्षेत्र होते हुए वे वदरिकाश्रम मे पहुँचे। वदरीनारायण के दर्शन कर वे कुछ दिनो वहाँ रहे और वहाँ एक मठ स्थापित किया। अथर्ववेद का प्रचार हो इसलिये उस मठ का अधिष्ठाता एक अथर्ववेदी ब्राह्मण नियुक्त किया। उसका नाम नन्द था। यह मठ "जोशीमठ" के नाम से प्रसिद्ध है।

वदरिकाश्रम से चल शङ्कराचार्य हस्तिनापुर से अग्निकोण की ओर "विद्यालय" नामक एक प्रदेश में गये। "विद्यालय" का प्रसिद्ध नाम विजिलविन्दु था। यहीं तालवन में मण्डनमिश्र नामक एक बड़ा विद्वान् रहता था। वह ज्ञानकाण्डियों का घोर शत्रु था। जिस समय शङ्कराचार्य मिश्र के पास पहुँचे उस समय वह सामने का द्वार वन्द करके श्राद्ध कर रहा था और मत्र वल से वुलाये जाकर स्वयं व्यास जी उसके कर्म को देख रहे थे।

शङ्कर सामने का द्वार वन्द देख, योगवल से घर में घुस गये। सन्यासी को देखते ही पण्डित[1] जी अग्नि शर्मा वन गये।

---

[1] श्राद्ध कर्म में गोलक का निषेध है। शङ्कराचार्य गोलक थे, अतः सम्भव है मण्डन मिश्र शङ्कराचार्य को देख इसी लिये क्रुध हुए हों। क्योंकि उस

कुछ देर बाद जब आहार आदि कृत्य से निश्चिन्त हुए तब शास्त्रार्थ की ठहरी। शास्त्रार्थ आरम्भ होने के पूर्व यह ठहराव उन दोनों में हो गया कि जो हारेगा उसे पराजित करने वाले का मत ग्रहण करना पड़ेगा। मण्डन मिश्र की स्त्री सरस्वती मध्यस्था हुई। शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र हार गये। शास्त्रार्थ में पराास्त होने पर मण्डन मिश्र संन्यासी हुए। पतिव्रता सरस्वती ब्रह्मलोक में जाने को उद्यत हुई। उनको ब्रह्मलोक जाने के लिये तैयार देख शङ्कराचार्य ने उनसे कहाः—

शङ्कराचार्य—सरस्वती! हमारे सामने तुमको भी पराभव स्वीकार करना पड़ेगा।

यह सुन सरस्वती आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने को तैयार हो गयी। शङ्कराचार्य ने जब देखा कि सरस्वती ने कामशास्त्र का विषय उठाया है, तब तो वे घबड़ाने और अप्रतिभ हो कहने लगेः—

शङ्कराचार्य—माता! आप छः मास तक इसी प्रकार यहाँ रहें, मैं कामशास्त्र सीख कर आता हूँ।

यह कह कर शङ्कराचार्य वहां से चल दिये। रास्ते में उन्हें एक राजा का शव दिखलाई पड़ा, जिसे लोग श्मशान को लिये जाते थे। शङ्कर ने मृतसञ्जीवनी द्वारा राजा के शव में प्रवेश किया और अपने शरीर की रक्षा का भार अपने चार शिष्यों को सौंपा। राजा की देह में प्रविष्ट होकर, शङ्कराचार्य ने

समय मंडनमिश्र श्राद्ध करते थे, इससे यह तो सिद्ध ही है कि मिश्रजी कर्मकाडी थे और श्रुतिस्मृति विहित कर्म करते थे। श्राद्ध क्रोध त्याग कर करना होता है, सो ऐसे कार्य में, संन्यासी को देख, मिश्र जी बिना विशेष कारण हुए कभी क्रुद्ध नहीं हो सकते थे।

कामशास्त्र भलीभाँति सीखा। किन्तु रानी बडी चतुरा थी। राजा का रङ्ग ढङ्ग देख, उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ। एक दिन उसने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि यदि तुम्हें कोई मृतदेह आस पास दीख पडे तो तुम उसे भस्म कर दो। कर्मचारियों ने घूमते फिरते शङ्कराचार्य का मृतदेह देखा और वे उसे जलाने का उद्योग करने लगे। इधर उनके शिष्य ने यह हाल जाकर छद्मवेश-धारी शङ्कर से कहा। शङ्कराचार्य ने देखा कि चिता में आग लगा दी गई है वे झट योगबल द्वारा अपने शरीर में घुस गये और जलती हुई चिता से पृथ्वी पर कूद पड़े। उन्होंने अपनी झुलसी हुई देह की ओर ध्यान न दिया और वे लक्ष्मीनृसिंह का स्तव करने लगे। लक्ष्मीनृसिंह ने अमृत वर्षा कर उन्हें आरोग्य कर दिया। वहाँ से शङ्कराचार्य सरस्वती के समीप गये। सरस्वती ने देखा कि यदि अब कामशास्त्र की चर्चा की, तो बड़ा अश्लील सम्भाषण होगा, अतः पराजय स्वीकार कर वे ब्रह्मलोक को चल दीं। उसी दिन से बौद्धधर्म की शक्ति निस्तेज होने लगी और हिन्दूधर्म परिपुष्ट होने लगा।

एक दिवस ध्यानावस्था में शङ्कराचार्य ने देखा कि उनकी जननी उन्हें देखना चाहती है। यह देख वे क्षणमात्र में योग-विद्या द्वारा उनके पास पहुँच गये। बहुत दिनों बाद पुत्र को देख उनकी माता बहुत दिनों का दुःख भूल गईं और पुत्र के शरीर में ईश्वरीय शक्ति का आविर्भाव देख प्रसन्न हुईं। अनन्तर इधर उधर की अनेक बातें करके शङ्कर की जननी ने उनसे कहाः—

शङ्कर की जननी—मैं अब वृद्धा हुई। मुझसे अपने इस अकर्मण्य शरीर का बोझ अब नहीं सहा जाता। अतः तुम अब इस शरीर की सद्गति करा दो।

माता के कथनानुसार उसकी सद्गति के लिये शङ्कर ने महादेव की स्तुति की। महादेव ने प्रसन्न हो शङ्कर-जननी को कैलासपर ले आने के लिये प्रमथ गण को भेजा। उसको देख शङ्कर-जननी ने पुत्र से कहा:—

शङ्कर-जननी—बेटा! मैं शिवलोक में जाना नहीं चाहती। मैं तो शङ्ख-चक्र गदा-पद्म-धारी एवं वनमाला-विभूषित, श्रीवत्स-शोभान्वित, पीताम्बरधारी श्रीहरि के दर्शन करते करते वैकुण्ठधाम को जाना चाहती हूँ।

शङ्कराचार्य ने इस प्रकार जननी के भक्तिरसपूर्ण वाक्य सुन कर भगवान् नारायण की स्तुति की। विपत्तारण मधुसूदन, शङ्कर के स्तव को सुन प्रसन्न हुए और शङ्कर की जननी को अपने साथ वैकुण्ठ को ले गये। इसके अनन्तर शङ्कराचार्य ने माता के मृत शरीर का अन्त्येष्टि-क्रिया की और वे श्रीजगन्नाथपुरी में पहुँचे। वहाँ ऋग्वेद के प्रचारार्थ गोवर्द्धन नामक एक मठ स्थापन किया और ऋग्वेदज्ञ अपने शिष्य पादपद्म को उस प्रान्त में ऋग्वेद के प्रचाराथ उस मठ का आचार्य बनाया। फिर वे वहाँ से मध्यार्जुन नामक क्षेत्र को गये। जाते समय रास्ते में प्रभाकर नामक एक ब्राह्मण के घर में विश्राम के लिये ठहर गये। उस ब्राह्मण के एक महा-जड़-बुद्धि बालक था। जब उसने शङ्कराचार्य का नाम सुना, तब वह अपने लड़के को उनके पास ले गया और उसके रोग का आद्यन्त वृत्तान्त उनको सुनाया। शङ्कराचार्य ने उसे रोग-मुक्त करके सन्यासी होने की आज्ञा दी। यह रोगमुक्त बालक पीछे से हस्तामलक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अनन्तर अहोवन वासी नृसिंहोपासकों को अद्वैतवादी बना, शङ्कराचार्य कैवल्य-गिरि को पार कर, काञ्ची देश में पहुँचे।

काञ्ची देश का अधिपति हिमशीतल बौद्धधर्म का घोर पक्षपाती था। उसकी सभा में बड़े बड़े बौद्ध पण्डित रहते थे। शङ्कराचार्य ने उसकी सभा में जाकर बौद्धधर्म की अमूलकता सप्रमाण सिद्ध करनी चाही। यह देख वहाँ का राजा एव उसकी सभा के पण्डित क्रुद्ध हुए और इस दुस्साहस के लिये उन्होंने शङ्कराचार्य को दण्ड देना चाहा। शङ्कराचार्य ने राजा से कहा, यदि हमें विचार में तुम्हारे पण्डित हरा दें तो जो चाहो सो दण्ड हमें देना। यह सुन राजा ने बड़ी दूर दूर के बौद्ध पण्डितों को बुलाया। उनके साथ शङ्कराचार्य ने शास्त्रार्थ किया। अन्त में पण्डितों को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। राजा ने उन पण्डितों को दण्ड दिया और वे स्वयं शङ्कराचार्य के मत को मानने लगे। वहाँ से शङ्कराचार्य त्रिपुति गये। वहाँ दो बौद्ध पण्डितों को परास्त कर, वे मध्यार्जुन नामक स्थान को गये। इस स्थान का दूसरा नाम रामेश्वर है। शङ्कराचार्य ने रामेश्वर में यजुर्वेद-प्रचारार्थ शङ्कगिरि नामक एक मठ प्रतिष्ठित किया। उसमें यजुर्वेदज्ञ पृथिवीधर को आचार्य और प्रचारक के पद पर नियुक्त किया। इस मठ के अधीश्वर गिरि, पुरी, भारती नाम से प्रसिद्ध हुए।

वहाँ से चल कर, शङ्कराचार्य चिदम्बरम में पहुँचे। वहाँ दो चार दिन रह कर, वे अनन्तशयन को गये। वहाँ शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ से चल वे कामरूप को गये। वहाँ अभिनव गुप्त नामक एक प्रसिद्ध पण्डित रहता था। शङ्कर ने शास्त्रार्थ में उसे परास्त किया। इससे उसने अपना अपमान समझ शङ्कराचार्य को मार डालने का उद्योग किया।

इस घटना के कुछ दिनों बाद उनके भगन्दर रोग उत्पन्न हुआ। लोगों का कथन है कि जब अभिनव गुप्त शङ्कर को इस

प्रकार न मार सका, तब अभिचार द्वारा उसने शङ्कर के शरीर में यह रोग उत्पन्न कर दिया। तब उनके साथ जो शिष्य-मण्डली थी, उनमें जो प्रधान शिष्य था उसने जप करके कुछ ही दिनो में इस दुरारोग्य रोग से गुरु को मुक्त कर दिया।

एक दिन शङ्कराचार्य ने ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करते समय तीर्थयात्रियो के मुख से काश्मीर देश की बड़ी प्रशंसा सुनी। इसी स्थान में सर्व विद्या-प्रकाशिनी सारदा देवी निरन्तर विराजमाना रही हैं। जैसे वेदान्त के समान दूसरा शास्त्र नहीं, मेरु के बराबर पर्वत नहीं, तत्वज्ञान के बराबर कोई तीर्थ नहीं एवं विष्णु के बराबर अन्य देव नहीं. वैसे ही काश्मीर के समान सुन्दर एवं शोभायुक्त कोई देश नहीं।

यह सुन शङ्कराचार्य के मन में काश्मीर देखने की लालसा बलवती हुई। वे शिष्यो को साथ लिये हुए थोड़े ही दिनो बाद काश्मीर में पहुँचे। काश्मीर जाते समय रास्ते में उन्हें गौरीपाद नामक एक स्वामी मिले। उन्होंने शङ्कर से कहा :—

गौरीपाद—शङ्कर! तुम्हारी भाष्य रचना की चर्चा सुन, हम बड़े प्रसन्न हैं। हमने इस बीच में माण्डूक्योपनिषद् का वार्त्तिक प्रणयन किया है। हमने सुना है कि तुमने उसका भाष्य बनाया है। उस भाष्य को सुनने के लिये हम तुम्हारे पास जा रहे थे।

शङ्कराचार्य ने गौरीपाद स्वामी को अपना रचा भाष्य समर्पण कर दिया। गौरीपाद स्वामी उसे पढ़ कर, आनन्दाश्रु बहाते और भूरि भूरि उसकी प्रशंसा करते हुए अपने घर को लौट गये। शङ्कराचार्य चलते चलते काश्मीर पहुँचे।

एक दिवस शङ्कर विद्याभद्रासन पर बैठ रहे थे, इतने में वीणापाणि सरस्वती ने कहा —

सरस्वती—शङ्कर ! तुम्हारा शरीर अशुद्ध है । इस आसन पर चढ़ने के पूर्व देह की शुद्धि आवश्यक है, अङ्गना का उपभोग कर, तुमने कामकला और कामशास्त्र सीखा था, इससे तुम्हारा शरीर अपवित्र हो गया है ।

यह सुन शङ्कराचार्य ने कहा :—

शङ्कराचार्य—देवि ! इस शरीर से तो जन्म भर मैंने कोई पापकर्म नहीं किया । देवि ! जो मनुष्य पूर्व जन्म में शूद्र रहा हो और इस जन्म मे वह ब्राह्मणकुल में जन्म ले, तो क्या वह वेद पढ़ने का अधिकारी न समझा जायगा ?

शङ्कर का यह युक्तियुक्त उत्तर सुन शारदा देवी ने प्रसन्न हो विद्याभद्रासन पीठ पर बैठने की उन्हें आज्ञा दी । शङ्कराचार्य कुछ दिन तक वहाँ रह कर, केदारनाथ की ओर चल दिये ।

शङ्कराचार्य वेदव्यास भगवान् के वरदानानुसार बत्तीस वर्ष मानवलीला कर, केदारनाथ के पास पहुँच कर, अन्तर्धान हो गये । इस थोड़े ही समय में उन्होंने बड़े बड़े काम कर डाले । शङ्कराचार्य ने सर्वशास्त्र पारङ्गत हो कर बौद्धों का खण्डन किया, आर्यधर्म का उद्धार किया, ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य रचा । इसके अतिरिक्त उन्होंने एकादशोपनिषद् भाष्य, श्वेताश्वेतरोपनिषद् भाष्य, भारतैकपञ्चरत्न भाष्य, आनन्द-लहरी, मोहमुद्गर साधनपञ्चक, यतिपञ्चक, आत्मबोध, अपराधभञ्जन, वेदसार शिवस्तव, गोविन्दाष्टक, यमक पट्पदीस्तुति आदि अनेक ग्रन्थो

की रचना का। यदि कहीं वे दीर्घजीवी होते, तो न जाने वे इस देश के धर्म को किस दशा में पहुँचा देते—यह बात पाठकों की कल्पना-शक्ति के ऊपर हम छोड़ देते हैं।

पुरातत्वान्वेषियों में शङ्कराचार्य के जन्म-काल में बड़ा मतभेद है। परन्तु शिष्यपरम्परा से, जो शङ्कराचार्य के पश्चात् अभी तक चली आती है; अनुमान होता है कि, वे सन् ईसवी के नवें शतक में रहे होंगे।

श्री रामानुजाचार्य

जन्मस्थान

भगवान् रामानुजाचार्य श्रीसम्प्रदाय के पुष्ट करने वालों में प्रधान हैं। उनका जन्म जिस स्थान में हुआ वह एक तीर्थ-क्षेत्र है। स्कन्दपुराण में सत्यव्रत क्षेत्र भूतपुरी और उस स्थान पर अनन्त-सागर नाम के एक जलाशय का वर्णन पाया जाता है।

एक बार महर्षि अगस्त्य ने भगवान् स्कन्द से सत्यव्रतक्षेत्र और अनन्त सरोवर का इतिहास कहने के लिये अनुरोध किया। महर्षि के अनुरोध करने पर स्कन्द ने जो इतिहास कहा था उससे विदित होता है कि, स्वायम्भुव मन्वन्तर के प्रजापति ब्रह्मा ने जम्बूद्वीप के अन्तर्गत पुण्यक्षेत्र भारतवर्ष में, वेङ्कटाद्रि के दक्षिण भागस्थ पापनाशक क्षेत्र में एक बार अश्वमेध यज्ञ किया, तब से वह स्थान तीर्थ हो गया। एक बार भगवान् रुद्र नङ्गे हो कर और जटा खोले, उन्मत्त की तरह नाच रहे थे। उनकी यह दशा देख उनके अनुचर भूत प्रेत हँस पड़े।

इस अपमान को न सह कर, महादेव जी ने अपने अनुचरों को शाप देते हुए कहा 'तुमने हमारा अपमान किया है इस लिये तुम अब हमारे पास न रहने पाओगे। क्योंकि जो बड़े लोगों का अनादर करता है उसको स्थान से च्युत होना पड़ता है।'

महादेव जी के भूतगण, उनके शाप से डर कर ब्रह्माजी की शरण में गये। तब ब्रह्मा जी ने उनको आज्ञा दी कि, तुम जाकर

सत्यव्रत-क्षेत्र में तपस्या करो। ब्रह्मा जी की आज्ञा को सिर पर रख, वे वहाँ गये और नारायण का ध्यान करते करते उन्होंने एक हज़ार वर्ष बिता दिये।

एक दिन आकाश में अचानक देवताओं की दुन्दुभि बजती हुई सुनाई पड़ी। देखते देखते श्रीमन्नारायण उन भूतों के सामने प्रकट हुए। तपस्या छोड़ कर भूतगण खड़े हो गये और भगवान् का स्तव करने लगे। तब भगवान् ने उनसे कहा—'तुम वर माँगो'। इस पर भूतों ने अपने दुःख की सारी कथा कह सुनायी।

उनकी कथा सुन कर नारायण ने महादेव जी को स्मरण किया। स्मरण करते ही महादेव जी बैल पर सवार हो कर, वहाँ जा पहुँचे और हाथ जोड़ कर भगवान् की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

भगवान् ने मुसकुरा कर महादेव जी से कहा

श्रीमन्नारायण—देवदेव! आपने इन भूतों का अभिमान तोड़ने के लिये जो शाप दिया वह न्याय-सङ्गत ही है; किन्तु अब आप इन पर प्रसन्न हूजिये। ये सब बहुत दिनों से सत्यव्रत क्षेत्र में तपस्या कर रहे हैं। अब फिर आप इनको अपने पास रहने की आज्ञा दीजिये। क्योंकि कभी न कभी भूल सब से हुआ ही करती है।

महादेव जी ने भगवान् का कहना मान लिया। तब भगवान् ने नागराज अनन्त से कहा :—

श्रीमन्नारायण—नागराज! तुम यहाँ एक सरोवर बनाओ।

आज्ञा पाते ही उस पुण्यक्षेत्र में नागराज ने एक सरोवर बनायी। उस सरोवर में अनार के दाने जैसा स्वच्छ जल निकला

और कमल कल्हार आदि जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प उस सरोवर की शोभा बढ़ाने लगे। तब नारायण ने भूतों को लक्ष्य कर के कहा :—

श्रीमन्नारायण—अरे भूतों! तुम श्रद्धा-भक्ति सहित इस सरोवर में स्नान करो। हमारी आज्ञा से नागराज ने यह सरोवर तुम्हारे लिये बनाया है।

वे भूत भगवान् की आज्ञा से उस सरोवर के विमल जल में धसे और उनके शरीर पवित्र हो गये। फिर उन्होने शङ्कर की परिक्रमा की और उनके चरणयुगल में अपना मस्तक रखा। तब महादेव जी ने उन पर प्रसन्न होकर उन्हें अपने पास रहने की फिर आज्ञा दी। इसके बाद भूतो ने हाथ जोड़ और साष्टाङ्ग कर श्रीमन्नारायण की प्रार्थना करते हुए कहा :—

"हे देवेश! आप सब प्राणियों के अभीष्ट फलो को देने के लिये आज से इसी क्षेत्र में रहिये।"

यह सुन कर नारायण ने एक बार शङ्कर की ओर देखा। शङ्कर श्रीमन्नारायण का सङ्केत समझ कर कहने लगे :—

शङ्कर—हे चराचर स्वामिन्! जितने दिनो स्वारोचिष मनु को अधिकार रहे; उतने दिनो आप इस क्षेत्र में विराजिये।

श्रीमन्नारायण ने शङ्कर के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। इसके बाद उन भूतों ने भगवान् का उत्सव करने के लिये वहाँ एक मनोहर नगरी बनायी। यह पुरी तीन योजन में बसाई गयी और उत्सव को देखने के लिए आने वाले देवताओं के ठहरने के लिये बहुत सुन्दर और रङ्ग विरङ्गे और चारों ओर चहार दीवारी से

घिरे हुए, मनोहर हर्म्य और वडे ऊँचे ऊँचे प्रासाद वनाये। इसके वाद उन भूतों ने महादेव जी समेत वहाँ पहुँच कर वैशाखी शुक्ला द्वादशी से भगवान् का उत्सव मनाना आरम्भ किया। जव दूर दूर से आये हुए देवता, ऋषि और सिद्धगण उत्सव देख कर अपने अपने निवास-स्थान को लौट गये; तव उस नगरी में ब्राह्मणादि सव वर्णों के मनुष्य उस पुरी में वसाये गये।

इसके वाद श्रीमन्नारायण ने महादेव जी से कहाः—

श्रीमन्नारायण—शङ्कर! अव तुम अपने इन भूतो के साथ जाकर कैलास पर्वत पर सुख से रहो, किन्तु अपने गणों सहित प्रतिवर्ष वैशाखी शुक्ला द्वादशी के दिन हमारा उत्सव करने के लिये यहाँ आना, भूल न जाना। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि देव, मनुष्य, यक्ष, किन्नर आदि जो कोई वैशाखी शुक्ला द्वादशी को उपवास करेगा और अनन्त सरोवर में स्नान करके हमारी पूजा करेगा हम उसके सारे अभीष्ट (अर्थात् अतिदुर्लभ मुक्ति भी) पूरे करेंगे।

इस प्रकार वरप्रदान कर श्रीमन्नारायण ने महादेव को उनके अनुचरो सहित वहाँ से विदा किया। यह पुरी भूतो ने वनायी थी; इस लिये इसका नाम भूतपुरी पड़ा। इसी पुण्य-क्षेत्र के अनन्त नामक सरोवर में स्नान कर और आदिकेशव की आराधना कर के अनेक राजर्षियो ने मनोवाञ्छित फल पाया था।*

* स्कन्द पुराणान्तर्गत भूतपुरी-माहात्म्य देखो।

श्रीरामानुज स्वामी के जन्मस्थान का यह तो पुराना वृत्त हुआ। अब हम उस स्थान की वर्त्तमान अवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं। ऊपर के पौराणिक इतिहास से जाना जाता है कि भगवान् श्रीरामानुजाचार्य्य जिस क्षेत्र मे भूमिष्ठ हुए, वह ग्राम वडा प्राचीन है और उस स्थान पर अश्वमेध प्रभृति विविध यज्ञों के अनुष्ठान होचुके हैं। इस समय वही स्थान श्रीपेरम्बधूरम् नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान मद्रास हाते के चेङ्गलपत ज़िले के अन्तर्गत है और वर्त्तमान मद्रास नगरी से छब्बीस मील के अन्तर पर अवस्थित है। मद्रास रेलवे के त्रिमेलोर स्टेशन से दस मील के अन्तर पर श्रीपेरम्बधूरम् ग्राम पूर्वदक्षिण कोन में अवस्थित है। अब इस स्थान पर, इसके नगर होने के कोई भी चिन्ह विद्यमान नहीं हैं। चारो ओर नयन प्रसन्न-कारी शस्यश्यामला भूमि है। नारियल, ताल, खर्जूर, गुवाक, वट, अश्वत्थ, पुन्नाग, नागकेसर आदि अनेक प्रकार के वृक्षो से सुशोभित यह एक छोटासा गाँव है। दूर से इस ग्राम को देखने से मन आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। रेलवे स्टेशन से उतर कर इस ग्राम में प्रवेश करने के लिये एक चक्करदार सड़क पर चल कर वहाँ पहुँचना होता है। इसी सडक से कुछ दूर आगे वढ़ कर, आचार्य का जन्मक्षेत्र मिलता है। पहले स्वामी जी महाराज का जन्मस्थान मिलता है उसके वाद उनके उपास्यदेव श्रीकेशवदेव जी के मन्दिर में जाना होता है। उसके पास ही उनके भ्रातुष्पुत्र कूरेशस्वामी के रहने का घर है। उसके सामने वडा लंवा चौड़ा एक तालाव है। उसीका नाम अनन्त-सरोवर है। उस विशाल पर्वत सदृश अत्युच्च मन्दिर के सामने उस सरोवर के होने से उस स्थान का सौन्दर्य्य और माधुर्य्य कितना वढ़ गया है; इसे लिख कर हम नहीं समझा सकते। इस ग्राम में इस मन्दिर के अतिरिक्त कई एक ऊँचे गृह

और अनेक झोंपड़ियाँ हैं। उनमें बहुत से लोग भी रहते हैं। वहाँ जो ब्राह्मण रहते हैं उनकी प्रधानतः दो श्रेणियाँ हैं। इनमें अधिक संख्यक श्रीरामानुज सम्प्रदायस्थ शुद्धाचार युक्त श्रीवैष्णव हैं। श्रीशङ्कराचार्य के मतावलंबी स्मार्त ब्राह्मणों का भी यहां अभाव नहीं है; किन्तु उनकी सख्या है बहुत कम। स्कन्दपुराण में महादेव और उनके अनुचरो द्वारा वैशाखी शुक्ला द्वादशी के दिन जिस उत्सव की कथा लिखी है वह अब भी प्रति वर्ष वहाँ बड़ी धूमधाम से होता है। इसी उत्सव का नाम "ब्रह्मोत्सव" है।

ब्रह्मोत्सव देखने के लिये अनेक यात्री वहाँ जाते हैं। इस उत्सव के अतिरिक्त प्रति अमावस को वहाँ एक छोटा उत्सव होता है। इन दिनो वहाँ के मठ के तत्वावधायक Trustee श्रीत्रिवेङ्कट रामानुजाचारी हैं। आचार्य की जन्मभूमि वाले मठ की दशा मन्द नहीं है। वहाँ नियमित रूप से देवार्चन और अतिथि-सेवा होती है। मठ से कुछ हटकर एक संस्कृत-छात्रनिलय है। उसके प्रधानाध्यापक श्रीवेङ्कटनृसिंहाचारी जी हैं। इस ग्राम में एक "अन्न-क्षेत्र" अथवा भोजनालय भी है। तीर्थयात्रियो को वहाँ, ब्राह्मणो के हाथ के बने हुए सुन्दर खाद्यपदार्थ, मूल्य देने पर मिलते हैं। क्षेत्र में भोजन करने की प्रथा आधुनिक नहीं है। सुनते हैं यह प्रथा वहाँ बहुत दिनो से चली आती है।

वंश-परिचय

भगवान् श्रीरामानुजाचार्य का जन्म हारीत गोत्रीय ब्राह्मण वंश में हुआ। किन्तु वैदिक श्रौतसूत्र में ब्राह्मणो के अष्टत्रिंशति गोत्र वतलाये गये हैं और जिनका उल्लेख धनञ्जयकृत धर्म-प्रदीप में पाया जाता है, उनमें हारीत गोत्र का नाम नहीं है;

किन्तु स्वामी जी ब्राह्मण-वंश ही में अवतीर्ण हुए थे-इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं। इस सम्बन्ध में भूतपुरी माहात्म्य में एक रहस्य कथा है। उसे हम क्रमशः आगे लिखते हैं। हारीत-गोत्रीय ब्राह्मणों के पूर्वपुरुष क्षत्रिय थे पीछे भगवान् का आराधन कर के वे ब्राह्मण हुए।

प्राचीन काल में युवनाश्व नाम का परम धार्मिक राजा भारतवर्ष में राज्य करता था। उसीके पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज मान्धाता हुए। मान्धाता के विषय में ऋषियों का बनाया एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि "जहाँ से सूर्य्य उदय होता है और जहाँ अस्त होता है वह सारा स्थान महाराज मान्धाता के राज्य मे था।"

राजा युवनाश्व जब बूढे हुए और उनके कोई सन्तान न हुई ; तब सन्तान की कामना से उन्होंने एक यज्ञ किया ; किन्तु अध्वर्य्य* अनवधानता के कारण ब्रह्मतेजोवर्द्धक मंत्र का जप करने लगा। जब राजा को यह बात मालूम हुई, तब उन्होंने अध्वर्य्य से पूँछा :—

राजा—द्विजवर! यह आप क्या करते हैं ? हमने तो क्षत्रिय-सन्तान की कामना से यह यज्ञ आरम्भ किया है! क्या आप इस बात को भूल गये ?

अध्वर्य्य—देवताओं की इच्छा से मुझे यह भ्रान्ति हुई। क्या चिन्ता है ? आपके घर में ब्राह्मणोचित-प्रकृति सम्पन्न, सत्वगुण-प्रधान पुत्र उत्पन्न होगा।

इस पर धार्मिक राजा ने कुछ न कहा और वे पुत्र के जन्म-ग्रहण की प्रतीक्षा करने लगे। कालक्रम से राजा युवनाश्व की

---

* यजुर्वेदज्ञ ऋत्विक्।

महिषी के सर्वाङ्गसुन्दर एक पुत्र जन्मा । पुरोहित वसिष्ठ जी ने उसका नाम रखा 'हरीत'। राजकुमार हरीत अल्प आयास ही से सब शास्त्रों के ज्ञाता हो गये । उनका विवाह काशिराज की कन्या के साथ हुआ। कुछ दिनों बाद राजा युवनाश्व वाणप्रस्थ हो कर और पुत्र हरीत को राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त कर के, अपनी महिषी सहित हिमालय पर्वत पर चले गये। राजा हरीत के राज्य शासन में सारी प्रजा बड़े आनन्द से कालयापन करने लगी।

एक बार आखेट के लिये वन में गये हुए राजा हरीत ने पर्वत कन्दरा के भीतर किसी की कातरध्वनि सुनी । उसे सुन कर उनके हृदय में करुणा का वेग उमगा । उन्होंने उस कन्दरा के समीप पहुँच कर देखा कि, एक बड़े भीषण व्याघ्र ने एक गौ को पकड़ रखा है। राजा ने उस विपन्ना गौ की रक्षा करने के लिये तुरन्त व्याघ्र को लक्ष्य कर के एक तीर चलाया। व्याघ्र ने बाण के आघात से कुपित हो कर गौ की गर्दन मरोड़ डाली और वह स्वयं भूतल पर गिर पड़ा। बाघ और गौ-दोनो एक साथ ही मर गये। इस घटना से राजा को बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे—"हाय! मैंने कैसा दुष्कर्म किया! बाघ को मार कर मैंने गौ की हत्या की! अब मैं इस महापाप से क्यों कर छुटकारा पाऊँ? मुझे गो-हत्यारा कह कर लोग मेरी निन्दा करेंगे; इस लिये मेरे जीवन को धिक्कार है!"

जिस समय राजा इस प्रकार अपने को धिक्कार रहे थे, उस समय आकाशवाणी हुई—"राजन्! तुम दुःखी मत हो। तुम तुरन्त सत्यव्रतक्षेत्र को चले जाओ। वहाँ भूतपुरी में जो अनन्त सरोवर है उसमें स्नान करने से तुम्हारा सारा पाप छूट जायगा और तुम्हारा कल्याण होगा।"

इस देववाणी को सुन, राजा हरीत अपनी राजधानी मे पहुँचे और सब पुरोहितों तथा मंत्रियों को बुला कर उन्होंने उनसे सारा हाल कहा। फिर वसिष्ठ जी से पूँछा—"महर्षे! सत्य-व्रत-क्षेत्र, भूतपुरी और अनन्त सरोवर कहाँ हैं और वहाँ जाकर कौन से मंत्र का जप करना चाहिये।" महर्षि ने उस पुण्य-क्षेत्र का पता बतला कर कहा,—'राजन्! आप वहाँ जाकर वासुदेव[1] मत्र का जप करो। इस मत्र के जप करने से तुम्हें सिद्धि मिलेगी।"

उन्होंने फिर क्षण भर भी विलम्ब न किया और मंत्रियों को राज्य का भार दे, वे दक्षिण की ओर चल दिये। उन्होंने वेङ्कटाचल सत्यव्रत-क्षेत्र, काञ्चीपुरी, अरुणारण्य और अनन्त सरोवर के दर्शन करने ही से अपने को कृतकृत्य माना। राजा ने देखा उस समय भूतपुरी भग्न दशा को प्राप्त है। उसके चारों ओर बड़ा भारी वन है। उस वन में रहने वाले अनेक सिंह, व्याघ्र आदि पशु प्यास से व्याकुल हो अनन्त सरोवर का जल पीते हैं। वे उस जीर्ण नगरी के भग्न प्रासादों का दर्शन कर बहुत खिन्न हुए। इसके बाद राजा हरीत विशेष नियमों का पालन करते हुए अतिशय संयतचित्त हो कठोर तपस्या करने लगे। पहले दस वर्ष उन्होंने फल मूल खाकर, फिर बीस वर्ष पत्र पुष्प खाकर, चालीस वर्ष सूखे पत्ते खा कर और फिर ६० वर्ष जल और वायु खाकर बिताये। इसके बाद राजा निराहार रह कर गुरूपदिष्ट मंत्र का जप करने लगे। एक दिन सहसा दिङ्मण्डल निर्मल

---

[1] वासुदेव—वासु शब्द का अर्थ हृदय, और दिव् धातु का अर्थ दीप्ति है, अर्थात् जो हृदय में सदा दीप्यमान (प्रकाशमान) रहे वही वासुदेव वा परमात्मा कहलाता है। दूसरा अर्थ है वसुदेव के पुत्र वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण।

हो गया और सुख-स्पर्श-पवन चलने लगा। फिर आकाश में नगाड़ों के बजने का शब्द सुनायी पड़ा। इसके बाद एक अपूर्व विमान में बैठ कर, भगवान् नारायण हरीत के आश्रम में पहुँचे। राजा आँखें बंद किये नारायण का ध्यान कर रहे थे। इतने में बड़ी मीठी ध्वनि में किसी ने कहा—"राजन्! एक बार आँखें तो खोलो। देखो तुम्हारी तपस्या का फल तुम्हारे सामने है। भगवान् नारायण तुम्हें दर्शन देने के लिये आये हैं।"

यह सुन कर राजा सचेत हुए। उनका हृदय आनन्द से भर गया। इससे बढ़ कर इस संसार में और कौन सी वस्तु है जिसकी मनुष्य अपेक्षा कर सकता है। वे जगत् के सर्वस्व आज राजा के सामने खड़े हैं। इससे बढ़ कर राजा का आनन्द बढ़ाने और उन्हें कृतकृत्य करने के लिये और कौन सी वस्तु अपेक्षित है?

राजा ने विमान में कोटि सूर्य्यमण्डल की तरह देदीप्यमान भगवान् नारायण को अपने सामने देख, भक्ति में भर भूतल पर गिर कर प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर वे उनकी स्तुति करने लगे उनकी स्तुति सुन भगवान् राजा हरीत पर प्रसन्न हुए और उनसे कहने लगेः—

श्रीमन्नारायण—राजन्! हम तुम्हारी कठोर तपस्या और स्तव से तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हैं। अब तुम वर माँगो।

राजा हरीत—देव! मैं आखेट खेलने के लिये वन में जा कर असावधानता-प्रयुक्त गो-वध-जनित पाप से लिप्त हूँ, अब जिस उपाय से मैं उस महापाप से छूटूँ, वह उपाय कृपा कर बतलाइये।

श्रीमन्नारायण—राजन्! तुमने विपन्ना गौ की रक्षा करने के लिये व्याघ्र के तीर मारा। तीर के आघात से कुपित

हो कर व्याघ्र ने गऊ को मार डाला। इस लिये इस बात की तुम तिल भर भी चिन्ता मत करो। हमारे दर्शन करते ही तुम्हारा वह पाप नष्ट हो गया। तुमने जैसी कठोर तपस्या की है उस पर प्रसन्न होकर हम तुम्हें "ब्राह्मण्य" प्रदान करते हैं। तुम इसी शरीर से ब्राह्मणत्व प्राप्त करो और तुम्हारे हृदय में ब्राह्मोचित सकल मंत्र प्रकाशित हों। हमारे अंश से सम्भूत कोई महा-पुरुष, जगत् के कल्याणार्थ तुम्हारे वंश में जन्म ग्रहण करेगा और उसके नीचे के लोग भक्ति मान् और ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ होंगे। वेदवेदान्त का सारा तत्व उसकी जिह्वा पर विराजेगा। तुम्हारे वंशजों के प्रति अनुग्रह प्रदर्शनार्थ, मै वैवस्वत मनु के अधिकार काल के अन्त तक यहीं रहूँगा। राजन्! स्वारोचिष मन्वन्तर में शङ्कर के अनुचर भूतो-ने यह पुण्यमयी नगरी बनायी। अब इसका तुम जीर्णोद्धार करके, फिर इसे पूर्ववत् बना दो। इस अनन्त सरोवर के पूर्वभाग में रत्न-खचित एक मन्दिर हमारे लिये बनाओ। आज चैत्र मास की शुक्ला सप्तमी है। इस लिये आज ही से उत्सव आरम्भ करो और पूर्णिमा के दिन यज्ञ-स्नान कर के उत्सव समाप्त कर देना तुमने हमे प्रसन्न करने के लिये जो स्तव पढ़ा है उसे नित्य सन्ध्या समय शुद्ध चित्त हो कर जो मनुष्य पढ़ेगा, हमारी कृपा से उसके सारे अभीष्ट पूरे होंगे। आज से तुम हमारी आराधना मे

तत्पर हो कर, इसी पुरी में रहो और अपना वंशविस्तार करो। तुम्हारे वंशवाले हमारे परम भक्त होंगे और अतिसुख से यहाँ रहेंगे।

राजा हरीत ने भगवान् की अनुकम्पा पर परम प्रीतिवान् हो कर, उस नगरी का जीर्णोद्धार किया। अनन्त सरोवर के तीर पर बनाया हुआ मनोहर मन्दिर, मणि माणिक्य की प्रभा से चारों ओर से प्रकाशमान होगया। राजा ने यथाविधान उस मन्दिर में भगवान् की शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मधारिणी चतुर्भुज मूर्ति[1] की प्रतिष्ठा की और तभी से वहाँ उत्सव होने लगा। इस प्रकार प्रतिवर्ष भगवान् का उत्सव करते हुए राजा हरीत देहान्तरित हुए और उन्हें सायुज्य-मुक्ति मिली। उन्हीं हरीत के वंशवाले ब्राह्मण गण भूतपुरी में भगवान्[2] की अर्चना करते है।

जन्म

इसी सुप्रसिद्ध भूतपुरी या श्रीपेरम्बधूरम् में पूर्वोक्त हारीत-गोत्रीय ब्राह्मण वंश में यजुर्वेदोक्त आपस्तम्ब-शाखाध्यायी केशव याज्ञिक ने जन्म ग्रहण किया। केशव ज्ञानी और सदाचारी थे। इन्द्रिय-संयम और क्षमाशीलता एवं सत्यनिष्ठा के लिये जन-समाज में उनका विशेष आदर था। जैसे वे मिताहारी थे, वैसा ही वे मितभाषी भी थे। कभी किसी ने उन्हें प्रतिज्ञा-भङ्ग करते देखा सुना न था। इन विष्णुभक्त एवम् हरिपरायण ब्राह्मण की अवस्था ढल चली, किन्तु पुत्र-मुख देखने का सौभाग्य इन्हें तब भी प्राप्त न हुआ। तब वे पुत्र प्राप्ति की कामना से भगवान्

---

१ स्कंद पुराण में स्कन्दागस्त्य संवाद वाला तीसरा अध्याय पढ़ो।
२ इसी मूर्ति का नाम आदिकेशव है।

का आराधन करने लगे। एक वार चन्द्र-ग्रहण पड़ा। ग्रहण-स्नान के लिये केशव अपनी सहधर्मिणी कान्तिमती के साथ कैरविनी नदी के उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ वह समुद्र में मिलती है। पवित्र तोया कैरविनी और महोदधि के सङ्गम में स्नान कर, केशव ने पार्थसारथि नाम की विष्णुमूर्त्ति की सन्निधि में पुत्र-प्राप्ति की कामना से पुत्रेष्टि-यज्ञ किया। कहा जाता है होम समाप्त होने पर श्रीमन्नारायण ने केशव से कहा—"अरे भक्त केशव! मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ, बहुत शीघ्र मैं पुत्र के रूप में तेरे यहाँ जन्मूँगा।" केशव इस प्रकार के आश्वास वाक्य से आशान्वित होकर, घर को लौट गया। कुछ दिनों वाद सुन्दरी केशवपत्नी ने अति सुलक्षण युक्त गर्भ धारण किया। उसके मुख की प्रसन्नता और देह का लावण्य देख कर, सब लोग अनुमान करने लगे कि, उसके गर्भ में कोई महापुरुष वास कर रहा है। धीरे धीरे दसवाँ महीना भी पूरा हुआ। वन्धुवान्धव किसी अलौकिक चरित्र-सम्पन्न शिशु के जन्म की प्रतीक्षा करने लगे। चैत्र मास में वसन्त के समागम से, प्रकृति अभिनव शोभा से सज्जित हुई। वृक्ष नवजात पल्लवों से, द्विगुण शोभा को प्राप्त हुए। रसाल मुकुल के अपूर्व रस से मुग्ध हो कर, कोकिल सङ्गीत में मग्न हुई। भौंरे मधुपान की आशा से फलों पर मड़राने लगे। ऐसे ही सुखमय समय में और शकाब्द ९३८ में (सन् १०१७ में) अर्थात् आज से ८९५ वर्ष पहले, चैत्र मास में बृहस्पतिवार को दोपहर के समय शुक्ल-पक्ष की पञ्चमी को आर्द्रा नक्षत्र और कर्कट लग्न में केशवपत्नी कान्तिमती के एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। जननी नवोदित प्रभाकर की तरह पुत्र को देख कर, हर्षोत्फुल्ल हो गयी। वन्धु-बान्धव मिल कर आनन्द प्रकाश करने लगे। भूतपुरी के रहने वालों के घर घर आनन्द बधाई बजने लगी। कान्तिमती के भाई

शैलपूर्ण स्वामी भगिनी के पुत्रोत्पन्न का समाचार सुन, तुरन्त भूतपुरी में पहुँचे। अपूर्व लक्षणयुक्त नवजात शिशु को देख, वे आनन्द से विह्वल हो गये। ज्योतिषियों ने कहा—"इस शिशु के उत्पन्न काल में ग्रहों की चाल देख कर, कहना पड़ता है कि, समय पाकर यह बालक अद्वितीय महापुरुष होगा।"

अनन्तर जातकर्म समाप्त कर के केशव ने बारहवें दिन पुत्र का नाम रखा। उस दिन सारे भाईवंद और ग्रामवासी केशव के घर पर एकत्र हुए। बालक के मामा शैलपूर्ण स्वामी ने कौतूहल-प्रयुक्त, बालक के हाथ में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म अर्पण कर के उसका नाम 'श्रीरामानुज' रखा[1]।

बाल्यावस्था वा विवाह

नवजात शिशु शुक्लपक्षीय शशधर की तरह धीरे धीरे परिवर्द्धित होने लगा। पिता ने क्रमशः श्रीरामानुज के चूड़ा, मौञ्जी-बन्धन संस्कार कराये। इसके बाद जब श्रीरामानुज आठ वर्ष के हुए, तब उनका उपनयन संस्कार कराया गया और उनके पिता केशव उन्हें स्वयं वेदाध्ययन कराने लगे। धीरे धीरे श्रीरामानुज सोलह वर्ष के हुए और पिता ने उनका विवाह करके पुत्र-वधू के मुखकमल को देखना चाहा। उनकी अभिलाषा पूरी हुई। उनके सांसारिक सुख की सीमा न रही। पतिव्रता भार्य्या, मेधावी पुत्र और नवपरिणीता पुत्रवधू को घर में लाकर, वे परम आनन्द से समय काटने लगे।

पितृ-वियोग

यह संसार क्षणभङ्गुर है। स्त्री पुत्रादि के साथ सम्बन्ध मेघ-च्छाया की तरह अचिरस्थायी है। केशव का आयुष्काल शेष हुआ;

१ भाईवंदों ने बालक का नाम लक्ष्मणाचार्य रखा था।

वे कुछ दिनों बाद पतिप्राणा सहधर्मिणी, स्नेहमय पुत्र और नयनानन्दायिनी पुत्रवधू के माया-पाश को काट कर, विष्णुलोक को चल दिये। यदि और कोई साधारण व्यक्ति होता, तो पितृ-विच्छेद से विकल हो बहुत दिनों तक शोक प्रकाश करता; किन्तु ज्ञानी श्रीरामानुज पितृ-विच्छेद के शोक से अधीर न हुए। उन्होंने विवेक के साथ, शोक को मन से दूर कर के बड़ी श्रद्धा के साथ पितृदेव का और्द्ध्वदेहिक कृत्य पूरा किया और वे कुछ दिन तक स्नेह-मयी जननी और सहधर्मिणी के साथ भूतपुरी में रहे।

शास्त्राध्ययन

पितृ-वियोग होने पर भी श्रीरामानुज स्वामी को सांसारिक सुखस्वच्छन्दता के उपयोगी विभव का अभाव न था। वे अपनी पैतृक-सम्पत्ति द्वारा, अनायास बहुत दिनों तक सुख से समय बिता सकते थे; किन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा अतिप्रबल थी। उसको चरितार्थ करने के लिये स्वामी जी बड़े उत्सुक थे। सब शास्त्रों का अध्ययन कर के विपुल-ज्ञान लाभ की प्राप्ति के लिये श्री-रामानुज स्वामी ने दृढ़ सङ्कल्प किया। उस समय द्रविड़ प्रदेश की राजधानी काञ्ची नगरी, विद्या और धर्म्म-चर्चा के लिये दक्षिण प्रान्त में बहुत प्रसिद्ध थी। यादवप्रकाश नाम का एक वेदान्ती सन्यासी उन दिनों वहाँ की पण्डितमण्डली में बहुत प्रसिद्ध था। श्रीरामानुज स्वामी सपरिवार काञ्चीपुरी में जाकर यादव-प्रकाश के पास अध्ययन करने लगे। श्रीरामानुज नित्य जब यादव-प्रकाश के पास अध्ययन करने जाते, तब अध्यापक उनके सौन्दर्य, उनकी प्रतिभा एवम् वाक्यचातुरी देख सुन कर, मुग्ध हो जाते थे।

जिन दिनो श्रीरामानुज स्वामी यादवप्रकाश के पास पढ़ा करते थे ; उन्हीं दिनो वहाँ के राजा की कन्या पर एक ब्रह्मराक्षस ने अधिकार जमाया। तब राजा ने राक्षस को हटाने के लिये यादव को बुलाया। यादव श्रीरामानुज प्रमुख अपने शिष्यो को साथ ले, वहां गया। उसके अनेक यत्न करने पर भी जब राक्षस न हटा, तब श्रीरामानुज स्वामी ने कन्या के मस्तक पर अपना चरण छुआया और उसकी ब्रह्मराक्षस बाधा दूर कर दी। राजा ने प्रसन्न होकर स्वामी जी को बहुत द्रव्य दिया। इस पर यादवप्रकाश को डाह उपजा और मन ही मन वह स्वामी जी के साथ द्वेष करने लगा। इतने में स्वामी जी के मौसेरे भाई गोविन्दार्य भी यादव प्रकाश की पाठशाला में स्वामी जी के साथ पढ़ने लगे।

एक दिन यादवप्रकाश वेदान्त पढ़ा रहा था। उसने "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" एवं "नेह नानास्ति किञ्चन" की व्याख्या इस प्रकार की। "यह जगत ब्रह्म है, ब्रह्म भिन्न कुछ भी नहीं है। हम लोग जो भिन्न भिन्न पदार्थ देखते हैं, वे मायामात्र हैं।" यह विलक्षण अर्थ सुन रामानुज स्वामी का मन विरक्त सा हुआ और उनसे न रहा गया। उन्होंने कहा—"महानुभाव ! आप तो श्रुति की व्याख्या न कर, अपव्याख्या करते हैं। वस्तुतः इस श्रुति की व्याख्या यह नहीं है जो आपने अभी की। उसकी व्याख्या यह है—"सारा जगत ईश्वर द्वारा अधिष्ठित है, प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर बिराजमान है। ईश्वर जगत का आत्मा है। उससे पृथक् हो कर कोई भी वस्तु ठहर नहीं सकती।" यह अर्थ सुन यादव प्रकाश अग्नि शर्म्मा बन गया। उसका सारा शरीर काँपने लगा वह ऊँच नीच बातें कह कर, स्वामी जी से कहने लगा-'अरे शठ दुराशय ! तू क्या मेरा शिक्षक या गुरु है, जो मेरी व्याख्या को अपव्याख्या बतला कर, मेरी निन्दा करता है ?" स्वामी ने इस

अपमान को चुपचाप सह लिया किन्तु उनके मन में बड़ा खेद उत्पन्न हुआ और यादव प्रकाश से पढ़ना बंद कर, वे आपने घर ही पर वेदान्ततत्व की गम्भीर आलोचना स्वयं करने लगे।

कई मास व्यतीत होगये, गुरु शिष्य का साक्षात्कार न हुआ। दोनो शास्त्रालोचना में लगे रहते। श्रीरामानुज सन्तुष्ट रहते। वे उस झगड़े को भी भूल गये, किन्तु यादव प्रकाश निश्चिन्त न था। उसके भीतर विद्वेषाग्नि दहक रहा था। वह सदा बैर का बदला लेने का उपाय सोचा करता था। एक दिन उसने शिष्यो को अकेले में बुला कर कहा—"वत्सगण! तुम लोग जानते हो कि काञ्ची के पण्डितो मे मेरी कैसी प्रतिष्ठा है। बड़े बड़े पण्डित मेरे किये हुए अर्थों को निर्विवाद स्वीकार करते हैं। तब मैं क्यों कर श्रुति की अपव्याख्या करने लगा! तुमने रामानुज की धृष्टता देखी? उस दिन राजा के सामने भी उसने मेरा जैसा अपमान किया-वह भी तुम्हें मालूम ही है। रामानुज शिष्य होने पर भी मेरा शत्रु हो रहा है। उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। यदि यह कुछ दिनो और जीता रहा, तो अद्वैत मत का मूलोच्छेद कर द्वैत मत को जड़ पुष्ट कर देगा। अतएव इस शत्रु को किसी उपाय से मार डालना चाहिये। क्योंकि जब तक यह जीता रहैगा; तब तक मेरा मन शान्त न होगा।"

सरलमति शिष्य गुरु को प्रसन्न करने के लिये कहने लगे—"गुरुदेव! आप दुःखित न हो। आपके हम जेसे प्रिय शिष्यों के रहते आपको चिन्ता न करनी चाहिये। अवसर मिलते ही हम लोग रामानुज का प्राणनाश कर के आपको निष्कण्टक कर देंगे। आप निश्चिन्त रहें।" यह सुन यादव फिर कहने लगा—"वत्सगण! तुमने जो कहा, वह रत्ती रत्ती सत्य है; तुम गुरु के

उपकार के लिये सब कुछ करोगे। पर मैंने उसके प्राणनाश का एक उपाय सोचा है। चलो, हम लोग उसे साथ ले कर त्रिवेणी स्नानार्थ प्रयाग को चलें। वहाँ हम सब मिल कर, भागीरथी के प्रबल प्रवाह में उसे डुबो दें। ऐसा करने से उसकी सद्गति होगी और हम लोगों को भी ब्रह्महत्या जनित पाप से लिप्त न होना पडेगा।" इस प्रकार षड्यंत्र रचकर, श्रीरामानुज स्वामी को बातो में रख, यादव उनको साथ ले, शिष्य-मण्डली सहित प्रयाग की ओर चल दिया। उसकी शिष्य मण्डली में श्रीरामानुज स्वामी के मौसेरे भाई गोविन्दार्य भी थे।

वे लोग चलते चलते विन्ध्याचल की तराई के विकट वन में पहुँचे। यादवप्रकाश अपनी शिष्य मण्डली को साथ लिये हुए आगे आगे जारहा था और श्रीरामानुज अपने मौसेरे भाई गोविन्दार्य के साथ पीछे पीछे जा रहे थे। अवसर देख गोविन्दार्य ने सारा हाल श्रीरामानुज स्वामी से कहा और उन्हें सावधान कर वे झट जाकर-शिष्य मण्डली में मिल गये। गोविन्दार्य से सारा हाल सुन रामानुज ने उसी समय से उन दुष्टो का साथ छोड़ दिया और रास्ता छोड़ वे उस विकट वन में घुसे। चलते चलते जब वे थक गये, तब एक वृक्ष के नीचे बैठ सुस्ताने लगे। बादल तो आकाश में छाये ही हुए थे; इतने में वर्षा भी होने लगी। यादव ने जब देखा कि रामानुज साथ में नहीं है, तब उसने उन्हें बहुत ढुँढ़वाया, पर उनका कुछ भी पता न चला, तब उसने समझ लिया कि किसी बनैले जन्तु ने उन्हें खा डाला। यह विचार वह मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ।

उधर श्रीरामानुज स्वामी को भगवान् वरदराज और जगज्जननी लक्ष्मीजी ने बहेलिया और बहेलिन का रूप धर काञ्ची पहुँचाया।

काञ्ची में पहुँच कर स्वामी जी ने सारा हाल अपनी माता से कहा। माता पुत्र के सङ्कट को कटा देख, बहुत प्रसन्न हुई और उन्हें एकान्त में ले जाकर बोली—"बेटा ! इस नगरी में काञ्चीपूर्ण नामक एक भक्त हैं। वे वरदराज के कृपापात्र हैं। तुम उनके साथ मेल करो और उनसे जा कर यह सारा हाल कहो।" रामानुज स्वामी ने माता के कथनानुसार काञ्चीपूर्ण के पास जाकर सारा हाल कहा; जिसे सुन उन्होंने कहा--"सुधीवर रामानुज ! तुम पर भगवान् वरदराज की बड़ी कृपा हुई, नहीं तो तुम्हारा बचना कठिन था। अब तुम भगवान् के लिये स्वर्णकुम्भ में जल भरकर भगवान् को अर्पण किया करो।" यह हाल लौट कर स्वामी जी ने माता से कहा। माता कान्तिमती के आदेशानुसार स्वामी जी शालकूप से जल ला कर भगवान् वरदराज की सेवा करने लगे।

श्रीयामुनाचार्य और श्रीरामानुज

श्रीरङ्गनाथ के कृपाभाजन श्रीयामुनाचार्य बड़े पण्डित थे। उनके पास अनेक शिष्य वेदवेदाङ्ग की शिक्षा प्राप्त किया करते थे। एक दिन उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"अरे शिष्यगण ! तुम घूम फिर कर एक ऐसे व्यक्ति का पता लगाओ जो सुलक्षण-कान्ति-युक्त एव नवयुवक हो, सर्वशास्त्रपारदर्शी, मधुरभाषी, सदाचारी, और भगवद्भक्त हो।" शिष्यगण गुरु के आज्ञानुसार वहाँ से चल दिये। अन्त में वे काञ्ची में पहुँचे। वहाँ श्रीरामानुज स्वामी को देख और उनके सम्बन्ध की सारी घटनावली को सुन, वे श्रीयामुनाचार्य के पास लौट गये और उनसे सारा हाल कहा। श्रीयामुनाचार्य, स्वामी जी को देखने के लिये उत्सुक हुए। किन्तु अचानक बीमार होजाने के कारण, वे स्वयं काञ्ची न जा सके।

उधर यादवप्रकाश ने लौट कर, जब स्वामी जी के सकुशल काञ्ची लौट आने का समाचार सुना; तब वह दुष्ट मन ही मन लज्जित हुआ और लोगों को धोखा देने के लिये उसने फिर श्रीरामानुज स्वामी से मेल कर लिया। स्वामी भगवान् वरदराज की सेवा करते हुए, फिर उसके पास विद्याध्ययन करने लगे।

श्रीयामुनाचार्य जब रोग से मुक्त हुए, तब अपने शिष्यों समेत वे काञ्ची में आये। काञ्चीपूर्ण अपने गुरु के आगमन का समाचार पा कर, नगर-निवासियों समेत उनके आगत स्वागत के लिये आगे बढ़े। दोनो भक्तों का मिलन अपूर्व सुख का कारण हुआ। काञ्चीपूर्ण अपने गुरु को साथ लिये हुए, भक्तवत्सल भगवान् वरदराज के मन्दिर में गये। श्रीयामुनाचार्य ने प्रेमार्द्रचित्त हो हस्तगिरिस्थ भगवान् वरदराज की भक्तिपूर्ण गद्गद् स्वर से स्तुति करनी आरम्भ की। अनन्तर स्तुति समाप्त कर, जब वे श्रीरामानुज स्वामी से मिलने के लिये वहाँ से चले; तब उन्हें रास्ते में शिष्य-मण्डली समेत यादवप्रकाश आता हुआ दिखलाई पड़ा। उसी मण्डली में श्रीरामानुज स्वामी भी थे। श्रीयामुनाचार्य ने काञ्ची-पूर्ण द्वारा उन सब का परिचय पाया। फिर काञ्चीपूर्ण ने विन्ध्या-रण्य वाली सारी घटना श्रीयामुनाचार्य को सुनायी। उसे सुन श्रीयामुनाचार्य के मन में श्रीरामानुज के प्रति स्नेह उत्पन्न हुआ। वे बार बार उनकी ओर देखने लगे। श्रीयामुनाचार्य ने विचारा कि स्वामी जी को बुला कर, बातचीत करें; किन्तु यादवप्रकाश के साथ उन्हें देख उस समय बुलाना उचित न समझा। किन्तु श्रीरामानुज स्वामी के अभ्युदय के अर्थ, श्रीयामुनाचार्य बारम्बार भगवान् वरदराज से प्रार्थना करने लगे और शिष्यों सहित वे श्रीरङ्गक्षेत्र को लौट गये।

यादव प्रकाश और श्रीरामानुज स्वामी का पुनः विच्छेद

एक दिन यादव अपने अन्य शिष्यों को पढ़ा रहा था। उस समय श्रीरामानुज स्वामी उसके शरीर मे तेल लगा रहे थे। पढ़ाते पढ़ाते वह एक श्रुति का अर्थ करने लगा। अर्थ न कर, उसने अनर्थ कर डाला। श्रीरामानुज स्वामी यादवप्रकाश की अपव्याख्या सुन इतने विकल हुए कि उनसे न रहा गया और उनके नेत्रो से अश्रु बहने लगे और यादव के शरीर पर अश्रु की उष्ण बूँदें गिरीं, तब यादवप्रकाश का ध्यान श्रीरामानुज स्वामी की ओर गया और अश्रुपात का कारण पूछने पर श्रीरामानुज स्वामी ने कहा—"गुरुदेव ! आपने श्रुति का जो अर्थ अभी किया, वह नितान्त असङ्गत है। अतएव आपकी की हुई अपव्याख्या सुन, मेरे हृदय में दारुण दुःख उत्पन्न हुआ, इसीसे ये अश्रु बहे।" यह सुन यादवप्रकाश के क्रोध की सीमा न रही। उसका शरीर क्रोधावेश में भर काँपने लगा। वह कहने लगा—"रामानुज ! मैंने तो उस श्रुति की अपव्याख्या की। अच्छा, देखूँ तो तुम उसकी कैसी स्वाभाविक सद्व्याख्या करते हो"। इस पर श्रीरामानुज स्वामी ने कहा—"महाशय ! सुनिये मैं श्रुति का यथार्थ अर्थ करता हूँ।" यह कह उन्होने श्रुति का ठीक ठीक अर्थ कर दिया। तब यादव प्रकाश बोला—"अरे द्विजाधम ! तू मेरे पास रहने योग्य नहीं। तू शीघ्र मेरे सामने से चला जा।" यादवप्रकाश ने कलि के प्रभाव से विवेकभ्रष्ट हो, श्रीरामानुज स्वामी को वहाँ से निकलवा दिया। किन्तु महात्मा श्रीरामानुज स्वामी चुपचाप वहाँ से चले आये और काञ्चीपूर्ण के आदेशानुसार भगवान् वरदराज की सेवा करने लगे।

अन्तिम समय में श्रीयामुनाचार्य का दर्शन

उधर श्रीयामुनाचार्य ने श्रीरामानुज स्वामी से मिलने के लिये उत्सुक हो, उन्हें श्रीरङ्गक्षेत्र लिवालाने के लिये, अपने शिष्य पूर्णाचार्य को काञ्ची भेजा। श्रीयामुनाचार्य ने जाते समय पूर्णाचार्य को अपना बनाया आलवन्दार स्तोत्र दिया और कहा—जाकर इसे श्रीरामानुज की उपस्थिति में वरदराज को सुनाना। पूर्णाचार्य ने ऐसा ही किया। उस स्तोत्र के अपूर्व छन्द, मधुर पदविन्यास, भक्तिपूर्ण भाव और सर्वोपरि अमृतनिष्पन्दिनी ध्वनि से मन्दिरस्थ सब जन विमोहित हो गये। उसे सुन श्रीरामानुज स्वामी विमल आनन्द में मग्न हो गये और सादर उन्होंने पूर्णाचार्य से स्तोत्र के निर्माता का नाम पूँछा। पूर्णाचार्य ने श्रीयामुनाचार्य का परिचय देते हुए कहा—"महानुभाव! श्रीरङ्गक्षेत्र में श्रीयामुनाचार्य नामक एक वेदवेदाङ्ग पारङ्गत ब्राह्मण रहते हैं। वे निखिल वैष्णव सिद्धान्त के पारगामी एवं पञ्चसंस्कार द्वारा संस्कृत हो कर, संन्यासी हुए हैं। श्रीयामुनाचार्य आशैशव जितेन्द्रिय हैं। उनके हृदय में ईर्ष्या द्वेष का स्पर्श भी नहीं हुआ। कभी किसी ने उन्हें किसी पर क्रुद्ध होते आज तक नहीं देखा। वे ही परम भगवद्भक्त इस स्तोत्र के निर्माता हैं।"

श्रीरामानुज स्वामी को तो एक ऐसे गुरु की आवश्यकता थी ही, वे तुरन्त श्रीयामुनाचार्य के दर्शन करने के लिये श्रीरङ्गजी की ओर पूर्णाचार्य के साथ चल दिये। जब वे पुण्यतोया कावेरी के तट पर पहुँचे; तब उन्होंने श्रीयामुनाचार्य के परमपद प्राप्त होने का समाचार सुना। इस दुःखदायी संवाद को सुन, दोनों बड़े दुःखी हुए। अन्त में वे दोनों वहाँ पहुँचे; जहाँ श्रीयामुनाचार्य मृत्यु-शय्या पर शयन कर रहे थे। उन्हें देख, श्रीरामानुज स्वामी कहने

लगे—"हमारे भाग्य में यतिवर से वार्तालाप करना नहीं लिखा था, इसीसे वे हमारे यहाँ आने के पहिले ही चल दिये। जो होनहार था सो हुआ। हे वैष्णवगण! अब तुम हमारी बात को ध्यान देकर सुनो। हम इस लोकवासियों के लिये ऐसी सोपान-परम्परा तयार करेंगे, जिसके सहारे जीवगण अनायास सुख से श्रीहरि के चरणों के समीप पहुँच सकें। यह सुन उपस्थित श्रीवैष्णव-मण्डली उनकी बारम्बार प्रशंसा करने लगी।

अनन्तर श्रीयामुनाचार्य के हाथ की तीन उँगलियाँ आकुञ्चित देख, श्रीरामानुज स्वामी को बड़ा आश्चर्य हुआ और उपस्थित श्रीवैष्णवों से इसका कारण पूँछा। श्रीवैष्णवो ने कहा—"जन्म भर यतिवर की उँगलियाँ स्वाभाविक अवस्था में रहीं। अभी ये आकुञ्चित हुई हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। इसका कारण हमारी समझ में नहीं आता।" तब श्रीरामानुज स्वामी ने श्रीयामुनाचार्य का अभिप्राय समझ, श्रीवैष्णव-मण्डली के बीच में खड़े हो कर, उच्चैःस्वर से कहा—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं सदा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय मे रह कर, अज्ञानान्ध जनो को पञ्च-संस्कार सम्पन्न और द्राविड सम्प्रदाय के आचार में पारदर्शी एवं धर्मनिरत करूँगा। आवश्यकता होने पर सब प्रकार की विपत्तियों को झेल कर, श्रीवैष्णवों की रक्षा करूँगा।" यह बात समाप्त होते ही श्रीयामुनाचार्य की एक उँगली पूर्ववत् स्वाभाविक अवस्था में परिणत हो गयी। तब श्रीरामानुज स्वामी ने कहा—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं सर्वसाधारण श्रीवैष्णवों के हितार्थ तत्व-ज्ञान-संक्रान्त निखिल अर्थसंग्रह पूर्वक ब्रह्म (वेदान्त) सूत्र पर श्री-भाष्य प्रणयन करूँगा।" इसे सुन श्रीयामुनाचार्य की दूसरी उँगली पूर्ववत् ज्यों की त्यों हो गयी। तब श्रीरामानुज स्वामी ने फिर कहा—"महामुनि पाराशर (वेद व्यास) ने मनुष्यों के हितार्थ

जीव ईश्वर एवं ईश्वर-प्राप्ति के उपाय प्रभृति प्रदर्शन पूर्वक श्रीवैष्णवमत के अनुकूल जो पुराण बनाये हैं, उनके गूढ़ार्थ प्रदर्शन करने के लिये मैं एक अभिधान (कोष) बनाऊँगा।" यह कहते ही श्रीयामुनाचार्य की तीसरी उङ्गली भी ज्यों की त्यों पूर्ववत् होगयी। अनन्तर श्रीरामानुज स्वामी श्रीरङ्गमन्दिर में न जाकर उल्टे पैरों काञ्ची को लौट गये। वहाँ पहुँच सारा हाल काञ्चीपूर्ण से कहा। काञ्चीपूर्ण गुरुदेव की वैकुण्ठ यात्रा का हाल सुन दुःखी हुए।

श्रीरामानुज स्वामी की दीक्षा

कुछ दिनों बाद काञ्चीपूर्ण स्वामी के कथनानुसार, दीक्षा ग्रहणार्थ श्रीरामानुज स्वामी पूर्णाचार्य के पास श्रीरङ्ग-क्षेत्र को गये। उधर श्रीरङ्गक्षेत्रवासी श्रीवैष्णवों ने श्रीरङ्ग-क्षेत्र जी के महाक्षेत्र का शून्य आसन देख, आग्रह पूर्वक पूर्णाचार्य को, श्री-रामानुज स्वामी को साथ ले आने के लिये, काञ्ची भेजा। रास्ते में मदूरा के पास उन दोनों की भेंट हुई। दोनों ने एक दूसरे से अपनी अपनी यात्रा का कारण कहा। अन्त में श्रीरामानुज स्वामी ने पूर्णाचार्य से संस्कार करने के लिये प्रार्थना की। पूर्णाचार्य की इच्छा थी कि वे उनके पञ्चसंस्कार काञ्ची में श्रीवरद-राज भगवान् की सन्निधि में करें, किन्तु श्रीरामानुज स्वामी के बारम्बार आग्रह करने पर पूर्णाचार्य ने उनके संस्कार वहीं किये। महापूर्ण* स्वामी ने महा पण्डित श्रीरामानुज स्वामी को श्रीहरि के दास्य साम्राज्य का नायक बनाया और कहा—"इस लोक में श्रीयामुनाचार्य श्रीवैष्णव जगत के गुरु थे। उनके

* महापूर्ण स्वामी या पूर्णाचार्य स्वामी एक ही थे।

तिरोभाव होने पर, अब तुम उनके स्थानापन्न हो और प्रच्छन्न बौद्धों* के सम्प्रदाय को समूल उन्मूलित कर के श्रीवैष्णवो की रक्षा करो। तुम्हें इस कार्य्य के योग्य समझ मै तुमसे यह कहता हूँ।" यह सुन श्रीरामानुज स्वामी ने नीचे माथा नवा कर, 'मौनं सम्मतिलक्षणम्" की उक्ति चरितार्थ की और गुरु समेत वे काञ्ची लौट गये। श्रीरामानुज स्वामी ने अपने गुरु को अपने घर के पास ही ठहराया और उनसे अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थ पढ़े।

संन्यास-ग्रहण

एक दिन कौशल पूर्वक श्रीरामानुज स्वामी ने अपनी स्त्री को उसके पित्रालय भेजा और वे स्वय अपनी जन्मभूमि भूत-पुरी को चल दिये। वहाँ घर द्वार, वित्त आदि सब पार्थिव सम्पद् को छोड़ कर, श्रीरामानुज स्वामी ने कमण्डलु और काषाय वस्त्र धारण कर, अनन्त सरोवर में स्नान किया और आदिकेशव की सन्निधि में सन्यास ग्रहण किया। फिर वे काञ्ची लौट आये। वहाँ उन्हें उस आश्रम में देख काञ्चीपूर्ण को बड़ा आनन्द हुआ। उसी समय से उनका नाम "यतिराज" पड़ा।

शिष्य-गण

यतिराज के भान्जे दाशरथि और अनन्तभट्ट के पुत्र कूरेश,

---

* यहाँ पर प्रच्छन्न बौद्धों से तात्पर्य मायावादी शङ्कराचार्य के मत से है। वस्तुत निर्गुण ब्रह्मवादियों के मत से निरीश्वर बौद्धमतावलम्बियों का मत बहुत कुछ मिलता है। इसीसे किसी किसी पुराण में और वैष्णवों के ग्रन्थों में अद्वैतवादियों को प्रच्छन्न बौद्ध बतलाया है।

सब से प्रथम श्रीरामानुज स्वामी के शिष्य हुए। अनन्तर स्वामी जी ने यादवप्रकाश के संशयो को दूर किया। तब अपनी माता की प्रेरणा से वह श्रीस्वामी जी की शरण में गया। श्रीस्वामी जी ने उसके पञ्चसंस्कार कर, उसे शिष्य किया और उसका नाम गोविंद दास रखा। फिर गोविन्ददास से कहा—"अभी तक तुमने श्रीवैष्णव यतियों के मत पर, अनेक प्रकार के दोषारोप किये हैं। उन दोषो के परिहारार्थ श्रीवैष्णवमत समर्थन पूर्वक तुम ग्रन्थ रचो। उस समय गोविन्ददास का मन भगवद्भक्ति से परिपूर्ण था। अतः उसने किसी प्रकार की आपत्ति उपस्थित न कर, "यतिधर्मसमुच्चय" नामक श्रीवैष्णव मत-समर्थक एक पुस्तक रची। इसके बाद गोविन्ददास बहुत दिन न जिये और वैकुण्ठ-वासी हुए।

श्रीरङ्गक्षेत्र-यात्रा

श्रीस्वामी जी सशिष्य श्रीरङ्गक्षेत्र में पहुँचे। पूर्णाचार्य उनके दीक्षागुरु उनके आगमन से बहुत प्रसन्न हुए। सारी श्रीवैष्णव-मण्डली समेत श्रीस्वामी जी श्रीरङ्गनाथ जी के दर्शन करने मन्दिर में गये। दर्शन कर चुकने पर महापूर्ण स्वामी ने श्रीवैष्णव मण्डली के मध्य में खड़े हो कर उनसे कहा-"यतिराज! भगवान् की इच्छा है कि तुम चिरकाल यहाँ रहो। इस संसार के मोह-विमुग्ध जीवों का उद्धार करो। तुम असाधुओं को साधु बना कर, निखिलमानव समाज की भक्ति-पुष्पाञ्जलि ग्रहण करो।" इस पर श्रीस्वामी जी ने कहा—"महात्मन्। आप ही मेरे दीक्षादाता एवं सत्पथ-प्रदर्शक हैं। मेरा जो कुछ वैभव है, उसका आदिकारण आपकी कृपा है। मैं तो आपका दास हूँ। आपकी आज्ञा-पालन के अतिरिक्त मेरा

से यतिराज के हताश होकर सन्तप्त होने का हाल सुन, गोष्ठीपूर्ण को दया आयी और उन्होंने एकान्त में ले जा कर, उन्हें मंत्रार्थ का उपदेश किया। किन्तु मंत्र देने के पूर्व गोष्ठीपूर्ण ने उनसे कहा—"यह मंत्रार्थ अतिशय गोपनीय है, अतः अधिकारी को छोड़ अन्य किसी को कभी मत बतलाना।" इस प्रकार कई बार उन्हें समझा और उनसे प्रतिज्ञा करा कर, गोष्ठीपूर्ण ने उन्हें मंत्रार्थ का उपदेश किया। यतिराज महामहिमान्वित मंत्रार्थ प्राप्त कर, कृतार्थ हुए।

उसी दिन गोष्ठीपुर में नृसिंह स्वामी के मन्दिर में उत्सव था। उस उत्सव को देखने के लिये वहाँ बड़ी बड़ी दूर के श्रीवैष्णव एकत्र हुए थे। यतिराज को उन पर बड़ी दया आयी और रात्रि रहते ही वे निद्रा को छोड़ उठ बैठे। फिर मन्दिर के द्वार पर बैठ वे उच्चै:स्वर से मंत्ररहस्य का बारम्बार पाठ करने लगे। उसे सुन चौहत्तर विष्णुभक्त ब्राह्मण उस मंत्ररहस्य को पाकर कृतार्थ हुए। जब गोष्ठीपूर्ण ने यह हाल सुना, तब वे अपने मन में अत्यन्त विरक्त हुए और दूसरे दिन शिष्यो द्वारा श्रीरामानुज स्वामी को बुला कर, उनसे पूँछा—हे यतिराज! मैंने तुमको अति गोपनीय मंत्ररहस्य बतलाया। बतलाने के पूर्व अधिकारी को छोड़, अन्य किसी को न बतलाने की अनेक बार तुमसे शपथ भी करा ली थी। किन्तु बडे आश्चर्य की बात है कि तुमने तिस पर भी मेरी आज्ञा के सर्वथा विरुद्ध कार्य किया। अच्छा बतलाओ तो गुरु के साथ द्रोह करने वाले को क्या फल मिलता है? श्री-रामानुज स्वामी ने कहा—"प्रभो! गुरुद्रोह करने से नरक में पड़ना पड़ता है।" तब गोष्ठीपूर्ण ने पूँछा—"तब जान बूझ कर ऐसा घोर पाप तुमने क्यों किया?" इसके उत्तर में श्रीरामानुज स्वामी ने कहा—"गुरो! गुरुद्रोह के कारण मैं अकेला भले ही नरक में पड़ूँ, किन्तु आपकी कृपा से और सब तो परमपद

पावेंगे।" इस उदारतापूर्ण उत्तर को सुन गोष्ठीपूर्ण स्वामी का सारा क्रोध दूर हो गया और प्रसन्न हो यतिराज को गले लगा कर उपस्थित श्रीवैष्णवों को सम्बोधन कर कहा—"आज से श्रीवैष्णव-सिद्धान्त "श्रीरामानुज-सिद्धान्त" के नाम से प्रसिद्ध होंगे।" तभी से श्रीवैष्णवदर्शन का नाम "श्रीरामानुजदर्शन" पड़ा है।

देशाटन

कुछ दिनों बाद श्रीरामानुज स्वामी देशाटन को निकले और वेंकटगिरि होते हुए उत्तर को चले। दिल्ली, वदरिकाश्रम आदि स्थानों में श्रीसम्प्रदाय का प्रचार करते हुए, वे अष्टसहस्र नामक ग्राम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने वरदाचार्य और यज्ञेश नामक अपने दो शिष्यों को मठाधिपति नियुक्त किया। फिर हस्तिगिरि में पूर्णाचार्यादि से मिलने के अनन्तर, वे कपिलतीर्थ को गये। वहाँ के राजा विट्ठलदेव को उन्होंने अपना शिष्य बनाया। राजा ने तोंडीर मण्डल आदि अनेक ग्राम उनके भेंट किये।

फिर बोधायन-वृत्ति-संग्रह करने के लिये वे कूरेश सहित शारदापीठ (काश्मीर) को गये और वहाँ के पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। यतिराज ने भगवती वीणापाणि की स्तुति कर, उन्हें प्रसन्न किया। फिर बोधायन-वृत्ति को ले, वे श्रीरङ्ग जी की ओर चल दिये। किन्तु काश्मीरी पण्डितों को उस पुस्तक का इस प्रदेश में आना अच्छा न मालूम पड़ा। अतः रास्ते ही में वे यतिराज से उस पुस्तक को छीन कर ले गये। इस घटना से स्वामी जी को बड़ा दुःख हुआ। उन्हें दुःखी देख कूरेश ने कहा—"प्रभो! आप दुःखित न हों। मैंने उसे मनोयोग

पूर्वक आद्यन्त देख लिया है। आपकी कृपा से वह सम्पूर्ण ग्रन्थ मेरे हृदयस्थ है।" यह सुन स्वामी जी वहुत प्रसन्न हुए।

ग्रन्थ-प्रणयन

यतिराज स्वामी ने वेदान्तसूत्र पर "श्रीभाष्य," "वेदान्त-प्रदीप," "वेदान्तसार," "वेदान्तसंग्रह," "गीताभाष्य," "गद्य-त्रय" आदि वहुत से ग्रन्थ वनाये।

यतिराज की दिग्विजय यात्रा

यतिराज ने श्रीभाष्यादि ग्रन्थो को वना कर और वहुत से शिष्यो को साथ ले, चोलमण्डल, पाण्ड्यमण्डल, कुरुङ्ग आदि देशो में जैनियों एव मायावादियो को परास्त कर, उन्हें अपना शिष्य वनाया। कुरुङ्ग देश के राजा को दीक्षित कर, उन्होने केरल देश अर्थात् मलेवार के कट्टर वैष्णवद्वेषी पण्डितों को परास्त किया। वहाँ से वे क्रम से द्वारका, मथुरा, काशी, अयोध्या, वदरिकाश्रम, नैमिषारण्य आदि तीर्थों में हो कर, काश्मीर में पहुँचे; वहाँ के पण्डितो को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया। काश्मीर के नरेश उनका नाम सुन उनके पास गये और उनके शिष्य हो गये। वहाँ के पण्डितो को यह वात अच्छी न लगी। उन्होने स्वामी जी पर अभिचार प्रयोग किया। शिष्यो ने इसका समाचार श्रीस्वामी जी को दिया। पर इसे सुन श्रीस्वामीजी ज़रा भी विचलित न हुए। पण्डितों का सारा परिश्रम व्यर्थ गया और वे स्वयं पीड़ित हो, पागल हो गये और सड़को पर गालियाँ वकते हुए घूमने लगे। राजा को दया आयी और उन्होंने यतिराज से निवेदन कर, उनका पागलपन दूर कराया। फिर वे सव पण्डित स्वयं यतिराज के शिष्य हो गये। स्वय विद्यादेवी सरस्वती ने उनके भाष्य

की प्रशंसा कर, उन्हें "भाष्यकार" की सूपाधि प्रदान की। राजा भाष्यकार के प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ, सूर सामन्तों की सेना सहित, पहुँचाने के लिये, दो योजन तक उनके पीछे पीछे आया।

वहां से स्वामी जी द्वारका गये। फिर काशी हो कर, वे पुरुषोत्तम क्षेत्र पहुँचे। वहाँ बौद्ध पण्डितों को परास्त कर, वे श्रीरामानुज मठ में रहने लगे। भाष्यकार ने चाहा कि, वहाँ जगदीश के अर्चन-विधान में कुछ वैदिक रीत्या हेरफेर किया जाय, पर जगदीश की इच्छा न देख, वे वेङ्कटगिरि पहुँचे। फिर चोलदेश के कृमिकण्ठ राजा ने शास्त्रार्थ के लिये उन्हें बुलाया। यतिराज उसके पास जाते थे कि, मार्ग में चेलाचलाम्बा और उसके पति को दीक्षित किया। फिर अनेक बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। इस प्रकार कुछ दिनों वे भक्तों के नगरो में रहे। वहाँ स्वप्न देखने से इन्होंने यादवाचल पर जा कर, वहाँ की छिपी हुई भगवान् की मूर्त्ति को निकाला और शाके १०१२ में उस मूर्त्ति की वहाँ प्रतिष्ठा की।

एक वार यतिराज ने दिल्ली में जाकर तत्कालीन मुसलमान सम्राट् के महल से एक विष्णुमूर्त्ति को निकाला था।

श्रीरामानुज स्वामी के ७४ शिष्य वड़े प्रसिद्ध हो गये हैं। इनमें अन्ध्रपूर्ण की बड़ी महिमा है।

यतिराज की वैकुण्ठयात्रा

इस प्रकार यतिराज, भाष्यकार श्रीरामानुज स्वामी ने जीवधारियों के प्रति कृपा दिखलाने के लिये, इस धराधाम पर एक सौ बीस वर्ष तक वास किया। इस अवस्था का आधा समय

अर्थात् साठ वर्षो तक तो उन्होने भूतपूरी, काञ्ची, वेङ्कटगिरि, यादवाचल एवं दिग्विजय के लिये अनेक देशो में पर्य्यटन किया। अनन्तर उन्होंने अपनी आयु का शेष आधा भाग (अर्थात् साठ वर्ष) श्रीरङ्गनाथ जी की सेवा में व्यतीत किया। सेतुवन्ध से हिमालय तक और पश्चिम समुद्र से पूर्व समुद्र तक ऐसा कोई स्थान न था ; जहाँ पर यतिराज के शिष्य न हों। वैकुण्ठयात्रा के पूर्व यतिराज ने श्रीरङ्गनाथ भगवान् से प्रार्थना की थी— "प्रभो ! प्रसन्न होकर मुझे यह वर दीजिये कि, शैशवावस्था से ले कर अन्तिम समय तक मेरे शिष्य, भक्त, अनुगत, आश्रित, शत्रु, मित्र, अर्थात् जिस किसी से मुझसे कुछ भी सम्वन्ध रहा हो, वे सव शरीरान्त होने पर आपकी कृपा से वैकुण्ठ को जाँय।"

प्रार्थना करने के अनन्तर वे अपने मठ में पहुँचे, जहाँ अनेक श्रीवैष्णवो का समुदाय उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। यतिराज ने उनको शास्त्र के वाक्यों का सार उपदेश किया। उनके ये महावाक्य उच्चनीति और भगवद्भक्ति से परिपूर्ण हैं। अनन्तर उन्होने दीन दुखियो को दान देना आरम्भ किया। दान देने के पश्चात् उन्होंने अपने प्रधान शिष्यो को बुलाया और उन्हें शास्त्रो के निगूढ़ार्थ सम्वन्धी अनेक उपदेश दिये। इस कार्य में उनके तीन दिन और तीन रात व्यतीत हुईं। यह देख श्रीवैष्णवों को सन्देह हुआ। उन्होंने समझा कि, यतिराज जीवन का समस्त कर्त्तव्य पूरा कर चुके। तव वे अपने मानसिक भाव को गोपन न कर सके और पूँछने लगे—"प्रभो ! पहले तो आपने ये सव बातें हमें नहीं वताई थीं, आज इतनी शीघ्रता में वतलाने का क्या कारण है।" यतिराज ने कहा—"हे श्रीवैष्णवगण ! आज से चौथे दिन पृथिवी-त्याग करने की हमारी इच्छा है। श्री रङ्गनाथ स्वामी

से निवेदन किया था, उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली है।" यह भीषण संवाद सुन, श्रीवैष्णव कहने लगे—"प्रभो! आपकी सेवा विना एक मुहूर्त्त भी हम जीवन धारण नहीं कर सकते। अतः गुरुदेव! इसका तो कोई उपाय बतलाइये।" यह सुन श्रीरामानुज स्वामी ने शिल्पियों को बुलवा कर, अपनी प्रतिमा बनवाई। उस मूर्त्ति को निज शरीर से छुआ कर, उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा की। उस मूर्त्ति को देख सब लोग प्रसन्न हुए। फिर दाशरथि के पुत्र श्रीरामानुज दास के कहने पर, एक मूर्ति भूतपुरी के लिये भी बनवा दी। अनन्तर शिष्यों के आचार सम्बन्धी कई एक प्रश्नों के उत्तर दिये।

महायात्रा का जब एक दिन रह गया; तब यतिराज ने कूरेशतनय पराशर भट्टार्य को बुला कर, भगवान् श्रीरङ्गनाथ के दास्य-साम्राज्य के सम्राट् पद पर उन्हें अभिषिक्त किया। अनन्तर उन को उचित शिक्षा दी। तदनन्तर रघुनाथ के पुत्र के सिर पर हाथ रख कर कहा—' पश्चिम दिशा में वेदान्ति नामक एक महापण्डित है, वह अभी तक इस सम्प्रदाय में नहीं आया। अतएव तुम बहुत शीघ्र जा कर उसे परास्त कर, वहाँ श्रीसम्प्रदाय का प्रचार करो।" उन्होंने इस आज्ञा को शिराधार्य किया।

इसके बाद महायात्रा का दिन उपस्थित हुआ। प्रभात होते ही शिष्य प्रातःस्नान कर जब लौटे, तब यतिराज ने उनको भोजन करने के लिये आदेश दिया। अनन्तर उन्होंने स्वयं संयतचित्त होकर भगवदाराधन किया। अनन्तर श्रीरङ्गनाथ के अर्चकों को बुला कर कहा—"पूजकगण! तुम लोग हमारा अपराध क्षमा करो।" सेवकों ने कहा—"प्रभो! आप तो हमारे रक्षक हैं, भला आपका क्या अपराध है। आप तो जगत के हितैषी बन्धु हैं।

इतने दिनों आपने हमारा पुत्रवत् पालन किया। आपके बिना हम कैसे जीवित रहेंगे, हम इसी लिये व्याकुल हैं।" यतिराज ने कहा—"हमारे पश्चात् तुम बड़ी सावधानी से भगवान् का अर्चन करना।" इसके बाद उन्होंने सब श्रीवैष्णवों को सम्बोधन कर, कहा—"हे विनीत शिष्यवर्ग एवं प्रिय श्रीवैष्णवगण! आप लोग हमारे लिये शोक न कीजियेगा। आप लोग, जीवन के इस अन्तिम मुहूर्त्त में प्रसन्न हो कर हमको विदा कीजिये।" सब लोग शोकार्त्त और निश्चल भाव से खड़े रहे। यतिराज गोविन्द की गोद में सिर और आन्ध्रपूर्ण की गोद में चरण रख लेट गये। शिष्यवर्ग उदात्तस्वर से भृगुवल्ली, ब्रह्मवल्ली और श्रीपराङ्कुश निर्मित प्रबन्धों का पाठ करने लगे। भेरी मृदङ्ग बजने लगे। हरिनाम कीर्त्तन होने लगा। यतिराज पूर्णाचार्य की पादुकाओं की ओर नेत्र स्थिर कर और हृदय में श्रीयामुनाचार्य का कुछ देर तक ध्यान करते रहे। देखते देखते उनका प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर, परमधाम को सिधार गया। शून्य शरीर पड़ा रहा। माघ मास की शुक्ला दशमी को शनिवार के दिन मध्यान्ह काल में यतिराज पृथिवी को त्याग वैकुण्ठ सिधारे।

श्रीमध्वाचार्य

भाष्यकार स्वामी के तिरोभाव होने के कुछ दिनों बाद वैष्णव धर्म्म के प्रचार के लिये महात्मा मध्वाचार्य अवतीर्ण हुए। इन्होंने जिस सिद्धान्त का अवलम्बन किया, उसका नाम द्वैताद्वैतवाद है और उनका प्रवर्त्तित वैष्णव सम्प्रदाय ब्रह्मसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत के तूलव देश के अन्तर्गत उडुपी नामक एक प्रसिद्ध नगर है। समुद्र से डेढ़ कोस हट कर पापनाशिनी नदी के तट पर यह नगर अवस्थित है। उसके सन्निहित पाजिका क्षेत्र में मध्वगेह नामक एक द्राविड ब्राह्मण वास करता था। सन् १२०० ई० में उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस नवजात बालक का नाम वासुदेव रखा गया। वासुदेव ने नौ वर्ष की अवस्था में अच्युत नामक आचार्य से संन्यास ग्रहण किया। संन्यासी होने पर उनका नाम आनन्दतीर्थ पडा। आनन्दतीर्थ अनन्तेश्वर मठ मे रह कर, विद्याभ्यास करने लगे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर जो भाष्य किया उनका नाम पड़ा—"मध्वभाष्य" और उनके दर्शन का नाम हुआ "पूर्णप्रज्ञ" दर्शन।

आनन्दतीर्थ जब तक जीवित रहे, तब तक उनके सम्प्रदाय का अधिक दूर तक विस्तार न हुआ। उनके शिष्यानुशिष्य जयतीर्थ द्वारा द्वैताद्वैत मत का दक्षिण भारत और भारत के अन्य प्रदेशों में प्रचार हुआ। जयतीर्थ का जन्म दक्षिण भारत के पण्डरपुर के पास मङ्गलवेड़ ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम रघुनाथराव और माता का नाम था रुक्मिणी बाई। जयतीर्थ जिस रमणी के साथ परिणयसूत्र से आबद्ध हुए थे; उसका नाम था भीमा बाई। भीमा बाई अत्यन्त मुखरा

और व्यापिका थी। पत्नी के उग्र स्वभाव से विरक्त हो कर, जयतीर्थ ने ११६७ शक में संन्यास धारण किया। गृहस्थाश्रम में इनका दूसरा नाम था। संन्यासी होने पर इनका नाम जयतीर्थ पड़ा। जयतीर्थ असाधारण प्रतिभाशाली थे। उन्होंने असंख्य ग्रन्थो की रचा। उनमें से मुख्य ये हैं–१ "तत्वप्रकाशिका," २ "न्यायदीपिका", ३ "तत्वसंख्यान टीका," ४ "उपाधिखण्डन," ५ "मायावाद-खण्डन", ६ "तत्वनिर्णयटीका", ७ 'सुधा अर्थात् अणुभाष्य का टीका।"

जयतीर्थ केवल ४२ वर्ष तक जीवित रहे। दक्षिण भारत में माल्खेद् गेट स्टेशन के पास अब भी उनकी समाधि विद्यमान है।

श्रीरामानुज सम्प्रदाय की तरह श्रीमध्वाचार्य सम्प्रदाय का अधिक प्रचार, उस सम्प्रदाय के लोगों की कुछ कुछ सङ्कीर्णता के कारण न हो पाया। माध्वसम्प्रदाय वाले अपने सम्प्रदाय के ब्राह्मणो को छोड़, अन्य सम्प्रदायी ब्रह्मणों को भी मन्त्रप्रदान नहीं करते। एक बार कई एक माध्यवति और गृहस्थ गया जी गये। गयावालो ने उनसे प्रार्थना की कि, हमें दीक्षित कीजिये। पर माध्वयतियो ने उन्हें दीक्षित करना स्वीकार न किया। इससे गयावाले बड़े असन्तुष्ट और अप्रसन्न हुए और सब ने सलाह कर, दूसरे दिन सूर्य्योदय के पूर्व गया छोड़ कर चले जाने का उन्हें आदेश दिया। गया के तीर्थपुरोहित एक प्रकार से उस क्षेत्र के स्वामी हैं। क्योंकि उनकी अनुमति के विना वहाँ कोई मनुष्य धर्मकार्य करने का अधिकारो नहीं हो सकता। अगत्या माध्वो को गयावालो के साथ मेल कर के, उन्हें मंत्र देना ही पड़ा और तब विष्णुपाद में माध्वगण पिण्डदान कर पाये।

माध्वसम्प्रदाय में "अभुक्त संन्यास" की विधि नहीं है। विवाह करने के बाद, दीर्घकाल तक पार्थिव सुख भोग कर, जीवन के शेषभाग में इस सम्प्रदाय वाले सन्यास ग्रहण करते हैं। जब किसी मठाधिपति के मोक्षलाभ होने में दो तीन वर्ष शेष रह जाते हैं, तब उसका कोई भाई, भतीजा, भाञ्जा पुत्र या अन्य कोई निकट सम्बन्धी अपने स्त्री पुत्र को ले कर, मठ के पास आवसता है और मठाधीश की महायात्रा के पूर्व वह संन्यास ग्रहण कर, मठ की गद्दी को शून्य नहीं रहने देता। वहुत दिनो से माध्वो में परम्परागत यही प्रथा चली आती है। इस प्रथा से एक बड़ा लाभ यह है कि, मठ और उसकी सम्पति अन्य सम्प्रदायावलम्बी किसी ब्राह्मण के हाथ नहीं लगने पाती।

श्रीवल्लभाचार्य

वैष्णवों की तीसरा सम्प्रदाय रुद्र सम्प्रदाय अथवा वल्लभ सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता वल्लभाचार्य जी हुए। इनका सिद्धान्त " शुद्धाद्वैत " कहलाता है इनका भी जन्म-स्थान दक्षिण भारत में है, और इनका जन्म काकरवल्ली ग्राम में हुआ था। इस ग्राम में जाने के लिये "निदादामेलू" रेलवे स्टेशन है। वल्लभाचार्य द्रविड़ ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम लक्ष्मणभट्ट था। उनका जन्म सन् १४७८ ई० (सं० १५३५) में वैशाख कृष्णा ११ को हुआ था। इनके बडे भाई का नाम रामकृष्ण भट्ट और छोटे भाई का नाम रामचन्द्र भट्ट था। वल्लभाचार्य ने बालगोपाल की उपासना प्रवृत्ति की। वे असाधारण पण्डित थे। उन्होने काशी के प्रौढ़ पण्डित माधवानन्द तीर्थ त्रिदण्डी से विद्याध्ययन किया था। उनका बनाया ब्रह्मसूत्र का भाष्य "वल्लभ" कहलाता है। इस भाष्य के अतिरिक्त उन्होंने श्रीमद्भागवत पर भी टीका की है।

वल्लभाचार्य जी ने संवत् १५४८ ई० में दिग्विजय यात्रा की। पण्डरपुर, त्र्यम्बक, उज्जैन होते हुए वे व्रज में गये। वहाँ कई मास तक रह कर, वे सोरों, अयोध्या, नैमिषारण्य होते हुए काशी पहुँचे। वहाँ से गया और जगन्नाथ जी होते हुए दक्षिण चले गये। इस प्रकार सं० १५५४ (सन् १४९७ई०) में उन्होने अपनी प्रथम दिग्विजय यात्रा पूरी की। दूसरी दिग्विजय यात्रा में उन्होंने गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी की मूर्त्ति प्रकट की और उसको स्थापित किया।

श्रीवल्लभाचार्य जी ने तीन वार पर्यटन कर. सारे भारतवर्ष में वैष्णवमत का प्रचार किया और संवत् १५८७ (सन् १५३० ई०) की आषाढ़ सुदी २ को काशी जी में उन्होंने महायात्रा की।

इनके वडे पुत्र श्रीगोपीनाथ जी और छोटे पुत्र श्रीविठ्ठलनाथ जी हुए । गोपीनाथ जी के पुत्र पुरुषोत्तम जी के आगे फिर उनका वंश न चला, किन्तु विठ्ठलनाथ जी के सात पुत्र हुए। जिनमें से वडे गिरधर जी और छोटे यदुनाथ जी के वंश अब तक वर्त्तमान हैं।

वल्लभाचार्य वहुत दिनो तक ब्रज के अन्तर्गत गोकुल में रहे थे। इसीसे इनके सम्प्रदाय के गुरुओं की सञ्ज्ञा 'गोकुलिया' या 'गोकुलस्थ' गुसांई पड़ी । वल्लभाचार्य ने अवश्य ही कलियुगी जीवों के उद्धार का सरल मार्ग स्थापन करने के लिये इस सम्प्रदाय की सृष्टि की थी, किन्तु उनके तिरोभाव के उपरान्त, काल के अनिवार्य प्रभाव से उनके परवर्त्ती सम्प्रदाय नेताओ ने, उनका उद्देश भी वदल डाला । गोकुलिया गुसाँई, शिष्यो को अपना परिचय श्रीकृष्ण के नाम से देते हैं और शिष्यों से गोपी भाव से अपनी सेवा कराते हैं । अल्पशिक्षित स्त्री पुरुष उनके इस आदेश का पालन अनुचित रीत्या भी करते हैं।

वम्बई प्रदेश में गोकुलिया गुसाँई "महाराज" कहे जाते हैं। इनके ठाठ को देख, राजसी ठाठ तुच्छ सा प्रतीत होता है। देव मन्दिर के प्राकार के भीतर या उसके समीप ही प्रासाद तुल्य भवनों में ये रहते हैं। महाराज प्रायः सभी गृहस्थ होते हैं । इनमें से कुछ लोगों का सिद्धान्त है—"भगवान् की उपासना में उपवास की आवश्यकता नहीं, विषय-सुख भोग कर के श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिये। ऐसा करने ही से वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है।

बम्बई प्रान्त के धनकुवेर भाटिया जाति के वणिक् इस सम्प्रदाय के शिष्य हैं। उक्त वणिक् और वणिक् महिलाएँ वृन्द्रावन विलासिनी गोपियो का अनुकरण कर, "महाराजों" की सेवा तन मन धन से किया करती हैं। महाराजों का सारा व्यय उनके शिष्यो द्वारा चलाया जाता है। इस सम्प्रदाय के गुरुओ ने ऐसी प्रथा चला रखी है, जिससे धन एकत्र होने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इस प्रथा के अनुसार अपने आप धन चला आता है। शिष्यो को गुरुसेवा के लिये फीस या भेंट देनी पड़ती है। उसका संक्षिप्त व्योरा हम नीचे देते हैं :—

शिष्य को गुरुदर्शन के लिये . ५)
शिष्य को गुरुस्पर्शन के लिये ... २०)
शिष्य को गुरुचरण प्रक्षालन के लिये .. ३५)
शिष्य को गुरु को हिण्डोले में झुलाने के लिये .. ४०)
शिष्य को गुरु के चन्दन लगाने के लिये .. ४२)
शिष्य को गुरु के साथ एकासन होने के लिये .. ६०)

शिष्य को गुरु के साथ एक गृह में रहने के लिये ५०) से ५००) तक

शिष्य द्वारा गुरु का पदाघात सहन करने के लिये ११)
" दण्डाघात " " १३)

शिष्या को गुरु के साथ रासक्रीड़ा के लिये १००) से २००) तक।

शिष्या को गुरु के प्रतिनिधि द्वारा रासक्रीड़ा के लिये ५०) से १००) तक

महाप्रभु श्रीचैतन्य

माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत गौड़ीया वैष्णव नाम की एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीचैतन्य महाप्रभु थे। उनका जन्म शाके १४०७ (सन् १४८५ ई०) के फागुन मास की पूर्णिमा को नवद्वीप में हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र था और पुरन्दर एक और उपाधि थी। जगन्नाथ का विवाह नवद्वीप निवासी नीलाम्बर चक्रवर्त्ती की कन्या शची देवी के साथ हुआ था। इन्हीं शची देवी के गर्भ से चैतन्य देव का जन्म हुआ था। कहा जाता है चैतन्य देव ने तेरह महीने गर्भवास किया था। जगन्नाथ मिश्र अति शान्त प्रकृति और परम धार्मिक थे। वे देवार्चन, तपजपादि एवं श्रीमद्भागवत् के पाठ ही में अपना सारा समय व्यतीत किया करते थे। शची भी परम भक्तिमती और पतिपरायणा थी।

जगन्नाथ मिश्र नवद्वीप के रहने वाले थे। वे अनाचार, दुर्भिक्ष, मरी एवं डाँकुओ के भय से अपना देश श्रीहट्ट छोड़ कर नवद्वीप में जा बसे थे। श्रीहट्ट भी उनका आदि वासस्थान न था। चैतन्य महाप्रभु के पूर्वपुरुष उत्कल देशाधिपति कपिलेन्द्र-देव के भय से उड़िया के याजपुर नगर में होते हुए, श्रीहट्ट को भाग गये थे। किसी किसी के मतानुसार चैतन्य महाप्रभु पाश्चात्य वैदिक श्रेणी के ब्राह्मण थे। कोई कोई उन्हें दाक्षिणात्य ब्राह्मण भी बतलाते हैं। महाप्रभु की श्रेणी को ले कर, जैसा मतभेद है, वैसा ही मतभेद उनके गोत्र में भी है। कोई वत्सगोत्री और कोई उन्हें भारद्वाज गोत्री बतलाता है।

चैतन्य महाप्रभु के नामान्तर निमाई, गौराङ्ग एवं विश्वम्भर हैं। वे अलौकिक प्रतिभाशाली थे। अकेली प्रतिभा ही नहीं, किन्तु उनका सौन्दर्य भी असाधारण था। उन्हें जो देखता वही उनके रूप और गुणों से उनको ओर आकृष्ट होजाता था। लड़कपन में निमाई ने नवद्वीप के तत्कालीन सुप्रसिद्ध वैयाकरणी पण्डित गङ्गादास को चतुष्पाठी में कलाप व्याकरण पढ़ा था। पिता माता के अनुरोध से कुछ दिनों तक पढ़ना बन्द कर, चैतन्य देव ने फिर न्याय पढ़ा। उनके अनुयायी एक भक्त जीवन-लेखक ने लिखा है कि महाप्रभु ने अलङ्कार शास्त्र सम्बन्धी शास्त्रार्थ होने पर, एक दिग्विजयी पण्डित को और न्यायशास्त्र पर शास्त्रार्थ होने पर तत्कालीन प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित रघुनाथ शिरोमणि को भी परास्त किया था।

निमाई की आठ बहिनें अकाल ही में मृत्यु को प्राप्त हुई थीं और उनके ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप बाल्यावस्था ही से संसार से विरक्त से थे। तरुण होते ही उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। अतः जगन्नाथ के लोकान्तरित होने पर, अर्थसङ्कट में पड़, निमाई को एक चतुष्पाठी (पाठशाला) खोल कर, लड़कों को पढ़ाना पड़ा। इसी समय उनका विवाह नवद्वीप वासी वल्लभाचार्य की कन्या लक्ष्मी देवी के साथ हुआ। प्रथम निमाई अत्यन्त वैष्णवद्वेषी थे। चट्टग्रामवासी मुकुन्ददत्त नामक एक वैद्यकुमार पढ़ने के लिये नवद्वीप में रहता था। उसका सरल भक्तिभाव प्रत्यक्ष देख कर और सुमधुर सङ्गीत से आकृष्ट होकर, निमाई मुकुन्द के साथ सङ्कीर्त्तन में सम्मिलित होने लगे। कुछ दिनो बाद निमाई एक बार श्रीहट्ट गये। वहाँ से लौटने पर उन्होंने देखा कि, उनकी प्रियतमा लक्ष्मीदेवी सर्प के काटे जाने से मर गयी।

इस घटना के कुछ दिनों बाद नवद्वीप-वासी सनातन नामक ब्राह्मण की कन्या हरिप्रिया के साथ निमाई का दूसरा विवाह हुआ। कई एक बन्धुओं से आर्थिक सहायता मिलने के कारण यह विवाह बडी धूमधाम से हुआ। विवाह के थोडे ही दिनों बाद उन्होंने गया-यात्रा की। पहिले नवद्वीप ही में, मध्वाचार्य सम्प्रदाय के संन्यासी ईश्वरपुरी के साथ निमाई का परिचाय हो चुका था। गया में उक्त पुरी से उनको फिर भेंट हुई और उन्होंने उनसे दीक्षा देने के लिये प्रार्थना की। ईश्वरपुरी पहले तो राज़ी न हुए ; अन्त में निमाई को अलौकिक भक्ति देख कर, उन्हें दशाक्षरी मंत्र का उपदेश दिया। कहा जाता है कि गयाधम में विष्णु-पाद-पद्म के दर्शन करते ही निमाई के हृदय में भक्ति का उद्वेग उत्पन्न हुआ।

निमाई गया से नवजीवन पा कर नवद्वीप में आये। लोगो ने देखा कि, न तो उनमें अब पहले जैसी चञ्चलता है और न पण्डिताई का गर्व्व ही रहा है। अब तो वे विनयावनत गम्भीर और अटल ध्यान परायण हो गये थे कृष्ण का नाम सुनते ही उनके नेत्रों से अजस्र अश्रु प्रवाह वहने लगता था। इसी समय निमाई ने मुरारी गुप्त, सदाशिव पण्डित, शुक्लाम्बरधारी ब्रह्मचारी और कुछ छात्रों की एक सङ्कीर्त्तनमण्डली स्थापित की। नित्य श्रीनिवास के गृह में उनकी कीर्त्तन मण्डली कीर्त्तन किया करती थी। कुछ दिनों बाद परम वैष्णव अद्वैताचार्य के साथ निमाई की भेंट हुई। उन दिनों अद्वैताचार्य नवद्वीप ही में रहा करते थे। निमाई अद्वैताचार्य के प्रेम में पड़, नित्य उनके घर जाया करते थे। इतने में राढ़ देश से अवधूत नित्यानन्द, निमाई से जा मिले। मणि काञ्चन एकत्र हुए। नित्य कीर्त्तन होने लगा। किसी दिन वे श्री-निवास और चन्द्रशेखर के घरो के द्वार बन्द कर, उन्मत्त भाव से

कीर्त्तन किया करते थे। आरम्भ में नवद्वीपवासियों में नाना प्रकार की भली बुरी आलोचनाएँ प्रचारित हुईं। अन्त में सभी गौराङ्ग सम्प्रदाय की भक्ति और वैराग्य देख कर, धीरे धीरे उसमें मिलने लगे। उस समय वङ्गदेश में तांत्रिकों की प्रधानता थी। वहाँ प्रायः सभी वाममार्गी और पञ्चमकारियों के दास हो रहे थे। गौराङ्ग ने दलवल सहित नगर-कीर्त्तन करना आरम्भ किया। इससे अनेक वाममार्गी और शाक्त उनके पक्षपाती हो गये। कुछ दिनो बाद कुक्रियासक्त दो ब्राह्मण कुमारो को, जिनके नाम जगई मगई थे, महाप्रभु ने उद्धार किया। इतने में नवद्वीप के मुसलमान शासक चाँद काज़ी की अदालत में महाप्रभु के ऊपर अभियोग चलाया गया। किन्तु गौराङ्ग प्रभु की अलौकिक भक्ति पर मुग्ध हो, काज़ी ने उन्हें किसी प्रकार का दण्ड न दिया।

कुछ दिनों बाद, बालिका पत्नी और विधवा जननी को शोक-सागर में डाल, वे कण्टक नगरी में पहुँचे और केशवभारती से संन्यास लिया। संन्यास ग्रहण करने के पूर्व उनकी माता एवं अन्य भाई बदों ने उन्हें रोका भी था; किन्तु उन्होंने किसी का कहा न माना। संन्यासी होने पर दो तीन दिन तक वे उन्मत्त की तरह राढ़ देश में घूमते रहे। अनन्तर वे शान्तिपुर में पहुँचे। वहाँ कई एक दिनों तक अद्वैता-चार्य के पास रह कर, नीलाचल को ओर चल दिये। श्रीक्षेत्र में जगन्नाथ जी के दर्शन कर, वे वसुदेव सार्वभौम नामक एक बङ्गाली अध्यापक के घर में रहे और अकेले कृष्णदास को साथ ले, वे दक्षिण भारत में पर्यटन करने के लिए, वहाँ से भी चल दिये। रास्ते में राजमहेन्द्री में उन्हें रामानन्द राय मिले। दक्षिण प्रान्त के प्रायः सब तीर्थों में घूम फिर कर गौराङ्ग देव जगन्नाथ जी में लौट आये। इस तरह वे राजगुरु काशीमिश्र के घर में रहे। इसी समय श्रीक्षेत्र में गौराङ्ग के प्रेम

की हाट लगी। अनेक लोग उनके दर्शनों के लिये आने लगे और उनकी सेवा करने लगे। पुरी के तत्कालीन राजा प्रतापरुद्र, सपरिवार गौराङ्ग के प्रेम में अनुरक्त हुए। गौराङ्ग प्रभु ने नित्यानन्द के साथ परामर्श कर हरिनाम के अमृतमय जल से शाक्तों की केन्द्रस्थली वङ्गभूमि को पवित्र करने के लिये, अपने कई एक शिष्यो को भेजा। कुछ दिनो वाद वे अपने भक्तो समेत वृन्दावन गये। चैनन्य महाप्रभु मथुरा और वृन्दावन के सारे तीर्थों के दर्शन कर और श्रीकृष्ण की लीलाओ का स्मरण कर, प्रेम में विह्वल हो गये। वृन्दावन में गोकुलिया गुसाँई वल्लभभट्ट के साथ उनका वेदान्त विषयक शास्त्रार्थ हुआ। वहाँ से वे फिर जगन्नाथ जी को चले गये। शाके १४९५ में अड़तालिस वर्ष की अवस्था में, जगन्नाथ पुरी में उन्होने वैकुण्ठ लोक-यात्रा की।

चैतन्य महाप्रभु ने कुछ लिखा नहीं है। उनका सम्प्रदाय सम्बन्धी कोई ग्रन्थ नहीं पाया जाता। उन्होने अपने आचरणो द्वारा सर्वसाधारण को जो शिक्षा दी, उस पर विचार करने से वे साकार ब्रह्मवादी सिद्ध होते हैं। वे भागवत, विष्णुपुराण एव उपनिषदो के प्रमाण दिया करते थे। प्रभु चैतन्य, शास्त्रो के गौण अर्थ और आध्यात्मिक व्याख्या के पक्षपाती न थे। शास्त्रो का सहज अर्थ ही उनको प्रिय था। गौड़ीय-सम्प्रदाय की उपासना में दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्तभाव से श्रीकृष्ण की आराधना होती है। इन चतुर्विध उपायों में कान्त या मधुरभाव ही श्रेष्ठ माना गया है। कान्त भाव से उपासना करने से श्रीकृष्ण शीघ्र मिलते हैं। इसी लिये चैतन्य महाप्रभु श्रीकृष्ण से मिलने के लिये राधाभाव में अनुप्राणित होकर दौड़ते थे। देहान्तर के बाद सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य, सार्ष्टि नामक चतुर्विध मुक्तियो की अन्यतम मुक्ति

का अधिकारी बन कर, वैकुण्ठ में श्रीकृष्ण के साथ एकत्र रहना ही भक्तों का परम पुरुषार्थ माना जाता है।

धर्ममत प्रवर्त्तको में महाप्रभु चैतन्य देव बड़े उदार थे। क्या ऊंच, क्या नीच वे सभी को समान भाव से गले लगा कर प्रेम भक्ति प्रदान किया करते थे। इसीसे उनके धर्म का शाक्त प्रधान बङ्गाल प्रदेश में अच्छी भाँति प्रचार हुआ।

गौराङ्ग देव की महायात्रा के कई दिनों बाद विष्णुप्रिया देवी ने गौराङ्ग प्रभु की मूर्त्ति स्थापित की और देवता समझ कर उनकी पूजा की। उनके देहत्याग के अनन्तर उनके भ्राता माधवाचार्य सेवा के अधिकारी हुए। नवद्वीप में चैतन्य देव की मूर्त्ति है और यह मूर्त्ति उनकी पत्नी हरिप्रिया की स्थापित की हुई है।

महात्मा तैलङ्ग स्वामी

महात्मा तैलङ्ग स्वामी किस सन् संवत् में उत्पन्न हुए थे, इस बात का ठीक ठीक कुछ भी पता नहीं चलता। काशी के वृद्ध पुरुष उनके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न प्रकार की बातें कहा करते हैं। कोई उनकी आयु सौ वर्ष की और कोई दो सौ ढाई सौ से ऊपर बतलाता है। यही नहीं, काशी में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो उन्हें योगीश्वर कह कर, मरने पर भी अमर मानते हैं और उन्हें प्रसिद्ध महात्मा गोरखनाथ जी का शिष्य कह कर, अपने सरल विश्वास को सीमा तक पहुँचा रहे हैं। देखने वाले कहा करते हैं कि, जिस समय उनका कैलासवास हुआ, उनकी आयु नब्बे वर्ष से अधिक नहीं जान पड़ती थी। सन् १८०९ के शकाब्द में पौष सुदी ११ के दिन उनका कैलासवास हुआ था। अस्तुः—

जन्म

प्रसिद्ध विद्वान् और संन्यासियो की जन्मभूमि दक्षिण देश के विजना प्रान्त के हुलिया नगर में एक भारद्वाज-गोत्री नृसिंह-धर नाम ब्राह्मण रहता था। जो न बहुत बड़ा पण्डित था और न बड़ा भारी धनवान् था। वह एक मध्यम श्रेणी का पुरुष था। उसके दो विवाह हुए थे। पहली स्त्री के गर्भ से शिवराम (या तैलङ्गधर) और दूसरी स्त्री के गर्भ से श्रीधर नामक दो पुत्र जन्मे थे।

शिक्षा

बचपन ही से शिवराम को उनके पिता शिक्षा देने लगे थे। मातृभाषा द्रावड़ी और संस्कृत की कई पुस्तकों के पढ़ने से इनका शास्त्र में अधिकार होगया था। शिवराम अभी युवा और पूर्ण विद्वान् भी नहीं होने पाये थे कि, उन्हें पितृ-वियोग का दारुण शोक झेलना पड़ा। इनकी माता विदुषी एव विलक्षण बुद्धिमती थीं। पिता की मृत्यु के अनन्तर ये माता के पास विद्या पढ़ने लगे। कहते हैं इनकी माता बड़ी पण्डिता थीं और योगक्रिया में भी निपुणा थीं। अपने होनहार पुत्र को उन्होंने अन्यशास्त्रों के साथ योग की भी शिक्षा दी थी। माता ने जो बीज इस समय शिवराम के हृदय में डाल दिया था, वही पीछे से सींचा जाने पर प्रकाण्ड वृक्ष के आकार में परिणत हो गया था।

वैराग्य

माता कैसी भी विदुषी क्यों न हो; वह यही चाहती है कि, मेरा बेटा किसी तरह बड़ा हो, उसका विवाह हो और पुत्रवधू का मुखचन्द्र देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हो। कभी कभी ऐसा देखने मे आता है कि, पुत्र के अभी दूध के दांत भी नहीं गिरने पाये हैं कि, माता के आग्रह से चट घर में बहूरानी आ विराजीं। परन्तु इसके विरुद्ध पुराणों में एक मदालसा ही ऐसी ब्रह्म-वादिनी विदुषी माता मिली है कि, जिसने पुत्रों को जगज्जाल में न फँसा कर, लड़कपन ही में उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश देकर, आश्चर्यान्वित कर दिया था। मदालसा के बाद गोपीचन्द्र की माता मयनावती ने भी अपने पुत्र को सन्यास मार्ग में प्रवृत्त किया था। माता ने शिवराम को संन्यासी होने का उपदेश दिया था कि, नहीं—यह नहीं जाना गया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, उनकी

यह भी इच्छा न थी कि, उनका पुत्र संसार की दलदल में पॉव फंसा ले। क्योकि इनके भाईबंदो ने कई बार विवाह के लिये अनुरोध किया, पर इनकी माता आज कल कह कर टालती ही रही। शिवराम को माता में बड़ी भक्ति थी। जब इनकी माता का स्वर्गवास हुआ, तब इन्हें चारो ओर अन्धकार दिखलाई देने लगा। प्रेम की जगह घृणा उत्पन्न हो गयी। माता की मृत्यु के अनन्तर शिवराम घर नहीं गये। जिस खेत में माता का अन्तिम संस्कार किया था, वहीं झोंपडी बना कर रहने लगे। इनके छोटे भाई श्रीधर सकुटुम्ब आ कर, जब इनको घर न ले जासके, तब अगत्या उन्हें इन्हींकी हॉ में हॉ मिलानी पड़ी। अनुरोध उपरोध सब निष्फल हुआ। श्रीधर वहीं भोजन पहुॅचाने लगे। जब शिवराम ने देखा कि, श्रीधर का अनुराग ज्यो का त्यों बना है, तब उन्होंने भाई से कहा—"भाई! मुझे क्षमा करो। पिता की समस्त सम्पत्ति का तुम्हें अधिकार है। उसमें से हमें कौड़ी भी न चाहिये। जो कुछ योग धन माता दे गयी हैं, हम उसीमें सन्तुष्ट हैं। देखो उस धन को अपहरण कर, मुझे संसार में न खींचना।" इसके बाद माता की मृत्यु से बारह वर्ष तक आप वहीं योगसाधन करते रहे।

गुरु

इसी समय पञ्जाब देश की पटियाला राजधानी के पास वास नामक एक ग्राम में भागीरथ नामक एक प्रसिद्ध योगी रहते थे। दैवेच्छा से वे दक्षिण में गये और उक्त दशा में शिवराम के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। कुछ दिनों तक उसी स्थान में दोनों महापुरुष वास करते रहे। जब दोनों का परस्पर अनुराग हो गया; तब भागीरथ स्वामी इनको अपने साथ पुष्कर ले गये। वहाँ ये भागीरथ स्वामी के शिष्य हुए और उनसे योग की कई

प्रकार की क्रियाएँ भी सीखीं। मंत्रदीक्षा दे कर, गुरु ने इनका नाम गणपति स्वामी रखा था, किन्तु जब देश देशान्तर में भ्रमण कर आप काशी पहुँचे, तब लोग इन्हें त्रिलिङ्ग या तैलङ्ग स्वामी के नाम से पुकारने लगे।

परिभ्रमण

कुछ दिनों बाद इनके गुरु भागीरथ स्वामी का पुष्कर में स्वर्ग-वास हो गया। गुरु की मृत्यु के पश्चात् ये तीर्थयात्रा के लिये पर्य्यटन करने लगे। जहाँ तहाँ फिरते वे सेतुबन्ध रामेश्वर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अन्धराव नामक एक महाराष्ट्र ब्राह्मण को शिष्य बनाया। कार्तिक सुदी ४ को सेतुबन्ध रामेश्वर में बड़े समारोह से एक पूजा होती है, जिसके लिये यात्रियों का एक मेला भी लगता है। इस मेले में तैलङ्ग स्वामी के ग्राम और कुटुम्ब के लोग भी आये थे। उन्होंने जब तैलङ्ग स्वामी को पुनः पुनः घर चलने के लिये कहा, तब वे वहाँ से विरक्त हो, दक्षिण की सुदामापुरी में पहुँचे और एक निस्सन्तान और निर्धन ब्राह्मण के अतिथि हुए। ब्राह्मण ने बड़े भक्तिभाव से इनकी सेवा की और थोड़े ही दिनों में उसके दोनो दुःख दूर हुए देख कर, लोग इन्हें सिद्धपुरुष समझ कर घेरने लगे। एकान्त-प्रिय स्वामी जी को वहाँ रहना कठिन हो गया। कुछ दिनों पीछे ये नैपाल* और तिब्बत के पहाड़ों में आनन्द से योगाभ्यास करते रहे। इसी यात्रा में आप मान-सरोवर भी देख आये थे। तदन्तर वे नर्मदा नदी के तट पर मार्कण्डेय मुनि के आश्रम में जा रहे। वहाँ अनेक साधु महात्मा रहते थे, जिनमें "खाखी बाबा" नाम के एक बड़े सिद्ध पुरुष थे। एक दिन आधी रात के समय ये नदी के तट पर गये। खाखीजी वहाँ पहले ही से विद्यमान थे। एक ने दूसरे का महत्व जाना।

इनकी योगशक्ति को देखकर, जब वे सब लोगों में प्रकाश करने लगे; तब ये प्रयागराज चले आये और कुछ दिन यहाँ निवास कर अन्त में काशी जी में जा पहुँचे और गुप्तरीति से असीघाट पर तुलसीदास जी के बाग़ में रहने लगे।

काशी-वास

तैलङ्ग स्वामी ने सब से प्रथम काशी जी में तुलसीदास जी के बाग़ में वास किया। ये बीच बीच में लोलार्ककुण्ड पर भी रहा करते थे। इसी समय से इनकी योगशक्ति या करामात की धूम मचने लगी। कहते हैं कि, अजमेर निवासी ब्रह्मदत्त नामक एक जन्म का बहरा और कुष्ठी इसी कुण्ड पर आकर सो गया। दैवगति से तैलङ्ग स्वामी के चरणस्पर्श से उसकी नींद छूटी और इन्हें देख कर प्रार्थना करने लगा। दयालु स्वामी जी ने एक बिल्व पत्र दे कर सङ्केत से कहा कि कुण्ड में स्नान कर, बिल्वपत्र को धारण करो, सब रोग दूर होंगे। रोगी ने वैसा ही किया और रोग दूर हो गए। बस फिर क्या था। रोगी दोषी और अर्थी स्वामी जी के पीछे पीछे फिरने लगे और बहुत से आरोग्य भी होने लगे।

जब लोग इन्हें सताने लगे, तब वेदव्यास जी के आश्रम में गङ्गा पार जा रहे। फिर हनुमानघाट पर आ रहे। तदनन्तर तुलसी, अश्वमेध आदि घाटों पर, आज यहाँ, कल वहाँ; इस प्रकार रहने लगे। अन्त में ये पञ्चगङ्गा घाट पर रहने लगे और वहीं इनका शरीर भी पूरा हुआ।

आचरण

स्वामी जी का आचरण बिल्कुल निराला था। कभी वे समाधिनिष्ठ योगी दिखाई देते थे। कभी "साम्ब शिव हरहर" की

पर पञ्चगङ्गा घाट पर आने के पीछे, वे प्रायः किसी से नहीं बोलते थे। हाँ, किसी समय पर अपने आप एक आध बात कह दिया करते थे।

शास्त्र विषय की कठिन से कठिन मीमांसा वे सब को समझा दिया करते थे। वादी प्रतिवादी के शास्त्रार्थ के जटिल प्रश्नों को सहज में हल कर दोनों को प्रसन्न रखते थे। कभी कभी धनवान् पुरुष बहुमूल्य वस्त्र आभूषण से उन्हें सुशोभित करते थे; पर उचक्के आ कर, उन्हें उठा ले जाते थे। आप न पहले लोगों से प्रसन्न होते और न दूसरों से अप्रसन्न। वे समदर्शी महात्मा सर्वदा प्रसन्न और ब्रह्मानन्द में मग्न रहते थे।

करामात

स्वामी जी वचनसिद्ध महापुरुष थे। काशीवालों का यह दृढ़ विश्वास है कि, उनकी करामात की बातें इतनी असाधारण हैं कि आज कल के अविश्वासी पुरुषों को उन पर विश्वास होना ही बड़ा कठिन है। यदि करामात की बातें नितान्त ही मिथ्या कल्पना-प्रसूत हों, तो इसमें सन्देह नहीं कि, वे सर्वसाधारण के भक्तिभाजन अवश्य थे। कोई कोई कहते है कि, वे किसी अद्भुत औषधि को जानते थे जिसके बल से रोगियों को अच्छा कर दिया करते थे। सम्भव है ऐसा ही हो, परन्तु उनके प्रभाव के वर्णन करने वाले कहते हैं कि, वे जल पर चलते थे, आकाश में उड़ते थे और सहसा शून्य में लीन हो जाते थे। क्या ये सब बातें भी किसी औषधि के प्रभाव पर निर्भर थीं?

स्वामी जी का आश्रम

आपका आश्रम प्रथम तो कोई नियत ही न था, परन्तु मृत्यु से कई वर्ष पहले वे पञ्चगङ्गा घाट पर रहने लगे थे। वहाँ

तैलिङ्गेश्वर नाम से एक शिव लिङ्ग को आपने स्थापन किया था। उस आश्रम में स्वामी जी की एक प्रतिमूर्त्ति विद्यमान है। काशीवासी और यात्री अब भी उसीसे हृदय शीतल कर रहे हैं।

उपदेश
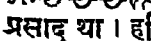
स्वामी जी ने अपने धर्म्मोपदेश से अनेक दुराचारी पुरुषों को सदाचार में प्रवृत्त किया। उनका अव्यर्थ उपदेश जिसने एक बार सुना उसीका कल्याण हुआ। आपने "महावाक्य रत्नावली" नामक एक उपदेश पूर्ण संस्कृत ग्रन्थ बनाया है, जिसमें आपका अपरिमेय शास्त्रज्ञान और भगवद्भक्ति स्थान स्थान पर प्रतिविम्बित हो रही है। उसके विषय ये हैं.—

वन्धन मोक्ष-वाक्य, विद्वद्-निन्दा-वाक्य, उपदेश-वाक्य, जीव-ब्रह्मै-वाक्य, मनन-वाक्य, जीवनमुक्त-वाक्य. स्वानुभूति-वाक्य. समाधि-वाक्य, अष्टस्वरूप-वाक्य, पुल्लिङ्ग-स्वरूप-वाक्य, स्त्रीलिङ्ग-स्वरूप-वाक्य, नपुंसकलिङ्ग-स्वरूप वाक्य, आत्मास्वरूप-वाक्य, ब्रह्मस्वरूप-वाक्य, अवशिष्ट-वाक्य, फल वाक्य, और विदेह-वाक्य।

मृत्यु

मृत्यु के पन्द्रह दिन पूर्व उन्होंने अपने सेवकों को इसकी सूचना दे दी थी और जिस स्थान पर आप रहते थे उसके सब द्वार वन्द कर पन्द्रह दिन प्रथम, समाधिस्थ हो कर वे वैठ गये थे। मृत्यु के दिन काल पूरा होने पर आप सायङ्काल के समय सब द्वार खुलवा वाहर आये। गङ्गा के तीर पर पद्मासन से वैठ ध्यानावस्थित हो, शरीर त्याग कर आप ब्रह्मपद में लीन हो गये।

श्रीनारायण स्वामी

अयोध्या से चार कोस उत्तर सरयू पर छिपिया नाम का एक छोटा ग्राम है। सन् १७८० ई० (१८३७ शाके) की चैत्र शुक्ला ६ को नारायण स्वामी का जन्म हुआ था। इनके बाप का नाम हरि-प्रसाद् था। हरिप्रसाद् सामवेदीय कौथमी शाखा के सावर्णि गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके तीन पुत्र थे, जिनके नाम यथाक्रम. घनश्याम, रामप्रताप और इच्छाराम थे। घनश्याम जब दस वर्ष के हुए; तब उनके माता पिता दोनो परलोकवासी हुए। माता पिता का वियोग होने पर घनश्याम के चित्त में ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि, वे गृहस्थाश्रम को छोड़ बारह वर्ष की अवस्था में तीर्थ-पर्यटन के लिये वाहिर निकले।

बदरिकाश्रम, केदारनाथ, काशीधाम, श्रीक्षेत्र आदि अनेक पुण्यस्थानों में घूमते हुए, में अन्त में वे जटाकौपीनधारी, मृगचर्म व्यवहारी हो गये। अनेक शास्त्रो को पढ कर वे ऐसे ज्ञानवान् हुए कि बडे बड़े जटिल प्रश्नो की सहज ही में मीमाँसा कर दिया करते थे। अनेक तीर्थों में पर्यटन कर और अनेक साधु महात्माओं के सत्सङ्ग में रह कर, वे १६ वर्ष की अवस्था में काठियावाड पहुँचे। तदनन्तर जूनागढ के निकट श्रीलोज ग्राम में जाकर, वे रामानन्द के शिष्य हो गये। रामानन्द स्वामी उस समय जीवित थे। अतः उन्होने उपयुक्त शिष्य पाकर, घनश्याम को अनेक उपयोगी उपदेश दिये। रामानन्द ने जब देखा कि, घनश्याम सब विषयों में योग्य हो गया है, तब उन्होंने घनश्याम का नाम बदल दिया और उसका नाम नारायण स्वामी रखा।

इस प्रकार ये रामानन्दी सम्प्रदाय के आचार्य सन् १८०४ ई० में अहमदाबाद पहुँचे और वहाँ अपना मत प्रचार करने लगे। सन् १८११ ई० में ये भावनगर राज्यान्तर्गत गड़हड़ा नामक ग्राम में धर्मप्रचारार्थ गये और वहाँ आठ सौ शिष्य किये। इनके धर्मोपदेश से वन के पशु पक्षियों के हृदय में भी धर्मभाव जाग्रत होता था। सन् १४२९ ई० में नारायण स्वामी गड़हज ग्राम में एक विशाल मन्दिर बनवाते बनवाते चल बसे। शिष्यों ने उनकी अन्त्येष्टीक्रिया कर, उस स्थान पर एक वृहत् मन्दिर बनवाया और उसमे नारायण स्वामी के पदचिन्ह स्थापन किये। नारायण स्वामी जिस समय परलोकवासी हुए; उस समय उनके सम्प्रदाय में पांच लाख शिष्य और पाँच सौ साधु हो गये थे।

श्रीरामदास स्वामी

गोदावरी नदी के उत्तर महाराष्ट्र प्रदेश में बीड नामक एक परगना है। उसके समीप जम्बू नामक ग्राम में सूर्य्य जी पन्त नामक एक ब्राह्मण रहते थे। इनकी पत्नी का नाम रानूबाई था। वह अतिशय देवभक्तिपरायणा थी। देवानुग्रह से रानूबाई के सन् १६०८ ई० में सुलक्षण-सम्पन्न एक पुत्र उत्पन्न हुआ। सूर्य जी पन्त और रानूबाई दोनो श्रीरामचन्द्र जी के परम भक्त थे। इसीसे उन्होंने अपने पुत्र का नाम रामदास रखा। सप्तम वर्ष की अवस्था में रामदास का उपनयन संस्कार किया गया। ईश्वरानुग्रह से इसी समय से रामदास के चित्त में धर्मभाव उदय हुआ। युवा होने पर रामदास के कुटुम्बियों ने उनके विवाह की बातचीत पक्की की। विवाह के दिन रामदास अपने कुटुम्बियों समेत भावी पत्नी के गृह पर पहुँचे। यदि विवाह का समय ठीक न साधा जाय, तो लग्न भ्रष्ट हो जाती है। अतः पुरोहित ने और लोगो को सतर्क करते हुए कहा- "सावधान"। पुरोहित के मुख से यह बात सुनते ही सब लोगो ने समझ लिया कि विवाह का समय उपस्थित हो गया। किन्तु रामदास "सावधान" शब्द का अर्थ कुछ और ही समझे। उन्होंने यह समझा कि, पुरोहित ने हमें लक्ष्य करके यह शब्द कहा है। संसार-बन्धन अति दुःखजनक है। इसमें सुख और शान्ति लेश मात्र भी नहीं। हमारे लिये वही समय अब उपस्थित देख, पुरोहित जी ने हमें सावधान किया है। इस प्रकार विचार, रामदास वहाँ से भाग खड़े हुए।

रामदास के पिता निज पुत्र के आचरण से अपना अपमान समझ, पुत्र के पीछे दौड़े और पुत्र को अनेक प्रकार से समझा बुझा कर लौटना चाहा, पर रामदास ने कहा—'मैं भोजन करने को प्रस्तुत था, पर भोज्य वस्तु को विष-मिश्रित जान उसे छोड़ दिया। काम-रिपु को चरितार्थ करने के लिये लोग विवाह करते हैं और विशेष सुन्दरी स्त्री पाने के लिये लालायित होते हैं। मूढ़ लोग, उस स्त्री को आजन्म पालन पोषण कर अपना जीवन नष्ट करते हैं। दुर्दान्त काल उनको पकड़ कर खींचता है; पर उनको इसकी कुछ भी परवाह नहीं। अतएव परमार्थ हानिजनक ये तुच्छ बातें मुझसे कहना उचित नहीं। आप घर लौट जाइये और मैं श्रीरामचन्द्र के पास जाता हूँ"। सूर्यजी पन्त, पुत्रके मुख से ये बातें सुन और पुत्र के मन में वैराग्य का उदय देख, हतोत्साह हो घर की ओर लौटे। रामदास भी पिता की अनुमति ले कर तपस्या करने के लिये चल दिये।

रामदास कई एक वर्ष तक कठोर तपस्या कर सिद्ध हुए। ये रामभक्त थे। अतः श्रीरामचन्द्र जी ने इन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। रामदास एक बार पंढरपुर में गये और वहाँ एक मन्दिर में श्रीकृष्ण मूर्त्ति देखी। उसके दर्शन कर, उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी की मूर्त्ति का ध्यान किया। भक्तवत्सल भगवान् ने भक्त की मनोवाञ्छा पूरी करने के लिये उस मूर्त्ति में श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन दिये।

सन् १६३२ ई० के फागुन मास में रामदास तीर्थयात्रा के लिये निकले। भारतवर्ष के अनेक नगरों में घूमते फिरते, वे फिर स्वदेश को लौट गये। भारतभ्रमण के समय वे श्रीरामोपासना का प्रचार करते थे। सन् १६४४ ई० के वैशाख मास में रामदास

स्वामी ने महावलेश्वर में एक आश्रम बना कर, उसमें राममूर्त्ति स्थापन की।

अब सब लोग जान गये थे कि रामदास सिद्ध पुरुष हैं। अतः अति अर्थी एवं दोषी लोगों की वहाँ भीडभाड़ लगने लगी। तब अपने कार्य में व्याघात पड़ते देख रामदास पर्वत की एक गुफा में रहने लगे।

रामदास स्वामी का यशः सौरभ दिग्दिगन्त में व्याप्त होने पर महाराष्ट्र नृपति शिवा जी उनके दर्शन करने के लिये उक्त स्थान पर गये। किन्तु जब उन्हें सिद्ध जी के दर्शन न हुए, तब वे हतोत्साह हो लौट आये और उनको खोजने के लिये कई एक चतुर मनुष्यों को इधर उधर भेजा। अन्त में शिवा जी को गोदावरी के तट पर नासिक में सिद्ध जी के दर्शन प्राप्त हुए और छत्रपति ने दीक्षा देने की प्रार्थना की; किन्तु स्वामी जी ने उन्हें दीक्षित न कर केवल इतना ही कहा—"बेटा! तुमको रात दिन राजकाज में व्यग्र रहना पड़ता है, अतएव तुम क्यों कर दीक्षा ले कर उसके नियमों का पालन कर सकते हो?" किन्तु शिवा जी ऐसे वैसे मनुष्य न थे। उन्होंने बारंबार हठ किया, तब रामदास जी ने उनको अपना पादोदक दिया और वे वहाँ से चल दिये। शिवाजी की गुरु में पूर्ण निष्ठा थी। उन पर जब कोई विपत्ति पड़ती या किसी विपत्ति के आने की सूचना मिलती: तब वे रामदास जी का ध्यान करते और उनके पास जा कर सब हाल कहते थे।

जिस समय मुग़लों ने शिवा जी की राजधानी पर आक्रमण किया, उस समय वे रामदास स्वामी के पास गये। रामदास स्वामी ने चिन्तायुक्त शिवा जी को देखते ही उनसे पूँछे विना ही कहा—"शिवाजी! यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? तुम चिन्ता मत

करो। युद्ध करो, तुम्हारी जीत होगी।" शिवा जी गुरु के मुख से अचानक ये शुभवाक्य सुन, बड़े प्रसन्न हुए और उनको प्रणाम किया। अन्त में रामदास जी ने जो कहा था वही हुआ। शिवा जी इस युद्ध में जीते।

योगवल से रामदास स्वामी अनेक अद्भुत कार्य कर गये हैं। एक वार उन्होंने एक जलशून्य स्थान में आध हाथ मिट्टी खोद कर, कितने ही प्यासों का प्यास बड़े मीठे जल से बुझाई थी। १५७७ शकाब्द में इनकी माता का शरीरपात हुआ. पर स्वामी जी को यह वात माता की मृत्यु होने के पूर्व ही विदित हो गई थी और वे एक दिन पहले अपने घर पहुँच गये थे। अस्वस्थ-काय रामदास की जननी को यह वात विदित न थी कि, वह अब यहाँ कुछ ही घण्टों की मेहमान है। वहुत दिनों वाद पुत्र को देख माता ने पुत्र से कहा—"रामदास! इतने दिनो वाद तुझे अपनी दुःखनी जननी की याद कैसे आयी?" इस पर रामदास ने कहा—"माजी! अव कल तो तुम्हारे दर्शन होंगे नहीं, इसीसे एक वार तुम्हारे चरणों के दर्शन करने आया हूँ।"

१५७२ शकाब्द में छत्रपति शिवा जी ने अपने गुरु के सम्मानार्थ सज्जनगढ़ में एक मन्दिर वनवाया। वह अव भी विद्यमान है। रामदास की "आञ्जूराइ" नाम्नी देवी की मूर्त्ति इस मन्दिर में प्रतिष्ठित है।

महात्मा रामदास स्वामी सन् १६८१ ई० में लोकान्तरित हुए। इन्होंने अनेक ग्रन्थ वनाये हैं; जिनमें "दासवोध" नामक पुस्तक और मन सम्वन्धी श्लोक सर्वोत्कृष्ट है।

भास्करानन्द सरस्वती

—:o:—

"कस्यापि कोऽप्यतिशयोऽस्ति सतेन लोके ।
ख्यातिं प्रयाति नहि सर्वविदस्तु सर्वे ॥
किं केतकी फलति ? किं पनसः सपुष्पः ?
किं नागवल्यपि च पुष्पफलैरुपेता: ?"

—विल्हण ।

सब लोग जानते हैं कि, प्रथम तो संसार में प्रसिद्ध होना ही सहज नहीं है, फिर सत्कीर्त्ति के साथ प्रसिद्ध होना तो बहुत ही कठिन बात है। जिनका सिद्धान्त "येन केनाप्युपायेन प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्" है अर्थात् चाहे जिस तरह से क्यों न हो पुरुष को प्रसिद्ध होना ही चाहिये। प्रसिद्धि के लिये यदि "रासभारोहण" भी करना पडे, तो वह भी सही ; किन्तु ख्याति का त्याग करना ठीक नहीं। परीक्षा से जाना गया कि, ऐसे लोगों पर भी प्रसिद्धि देवी की सहज में कृपा न हुई।

इसमें सन्देह नहीं कि, सुप्रसिद्ध होने की लालसा प्रत्येक मनुष्य को है और इसके लिये उन्हें अनेक प्रकार के यत्न भी करने पड़ते हैं, पर सभी लोगो का यत्न सफल होता हो, यह बात नहीं है। इधर इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि, बहुत से लोगों ने प्रसिद्धि के लिये कुछ विशेष यत्न भी नहीं किया, तथापि उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि, जिसका पहिले अनुमान करना भी कठिन था।

प्रसिद्ध होना अच्छा है कि बुरा, यहाँ इस बात का विचार नहीं है, वक्तव्य केवल इतना ही है कि, प्रसिद्ध होना १०० में ६६ आदमियों को इष्ट है और होता कोई विरला पुरुष है! ऐसे मनुष्य अनेक मिल सकते हैं कि, जिन्होने वित्तैषणा और पुत्रैषणा का त्याग कर, काञ्चनकामिनी से मुँह मोड़, निर्जन वन में वास भी कर लिया, पर महात्मा कहलाने की दुर्वासना को वे भी नहीं त्याग सके। अपनी सिद्धि की प्रसिद्धि के लिये उनको भी लालायित और व्यतिव्यस्त पाया। समाचारपत्रों के सम्पादकों की खुशामद करते देखा! अपने महत्व को छिपाने वाला, महापुरुष और सिद्ध होने पर भी अपने को "तृणादपि सुनीच" समझने वाला और मानाभिलाषियो को मान दे कर भी स्वयं मान को चाहने वाला, कहीं देखा तो कोई एक विरला पुरुष ही देखा।

अस्तु, अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि, प्रसिद्धि किस प्रकार होती है? विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता से?—कदापि नहीं। बड़े बड़े महाविद्वान् पुरुषो को देखते हैं कि, उन्हें कोई जानता तक नहीं और जो उनके सामने निरे घोंघावसन्त हैं या जो उनकी विद्या बुद्धि से परिचालित होते हैं, उन्हें सब कोई जानते एवं मानते हैं। इसका कारण क्या है? विचारने पर इसका कारण यही प्रतीत होता है जो इस लेख के शिरो-भाग पर लिखे हुए श्लोक में 'राजतरङ्गिणी' के रचयिता विल्हण ने प्रतिबिम्बित किया है और जिसका तात्पर्य्य यह है कि "किसी में कोई एक अनिर्वचनीय या विशेष गुण होता है, जिससे वह लोक में प्रसिद्ध हो जाता है; बहुत पढ़ने लिखने वा सर्वज्ञ होने से भी सब कोई प्रसिद्ध नहीं होते। केतकी कभी फलती नहीं, पलास कभी फूलता नहीं और नागवल्लि में भी फूल फल नहीं लगते, तो भी फल-पुष्प सुशोभित अन्य वृक्षों से उनकी इतनी ख्याति हो रही है।" वृक्षों में जो उनकी सुख्याति का हेतु

है, वही मनुष्य-समाज में व्यक्ति विशेष की विशेष प्रसिद्धि का कारण है।

चाहे जो हो इसमें सन्देह नहीं कि, उन्नीसवीं शताब्दी में जैसी स्वामी भास्करानन्द जी की प्रख्याति हुई, वैसी किसी दूसरे पण्डित या संन्यासी की नहीं। इस देश के राजा महाराज ही नहीं, वरन् विलायत के कितने ही अङ्गरेज़ भी इनको आश्चर्य और पूज्य बुद्धि से देखते थे। योरप के प्रसिद्ध प्रसिद्ध यात्री, जो १९वीं शताब्दी में यहाँ भारत-भ्रमण करने आये थे, अपनी अपनी यात्रा-पुस्तक में प्रायः सब ही ने स्वामी जी का आश्चर्यजनक और सुन्दर वर्णन किया है। यह वर्णन बहुत लोगों की समझ में औपन्यासिक होने पर भी भारतवर्ष के गौरव का हेतु होने के सिवा अगौरव-कर नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी पूर्णाश्रम, महादेवाश्रम, तारक ब्रह्मानन्द सरस्वती, विश्वरूप सरस्वती, विशुद्धानन्द सरस्वती, आदि काशी में अनेक महात्मा संन्यासी हो गये हैं, जो अपनी विद्या बुद्धि और संन्यासोचित गुणों के कारण केवल विद्वन्मान्य ही नहीं, वरन् देशमान्य होचुके हैं। दूर दूर के साधारण लोग भी उन्हें श्रद्धा भक्ति से मानते थे; किन्तु उन सब में स्वामी भास्करा-नन्द जी के समान प्रसिद्धि किसी एक ने भी नहीं पायी। न तो उनकी जहाँ तहाँ मूर्तियाँ पूजी गयीं और न अङ्गरेज़ लोग उन्हें देखने ही आये। उनकी प्रसिद्धि केवल भारतवर्ष के विद्वानों और हरिभक्तों तक ही रह गयी और इनकी सात समुद्र पार पहुँची। इस कहने से हमारा तात्पर्य्य यह नहीं है कि, उन महापुरुषों में कुछ न्यूनता थी। किन्तु हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि, स्वामी भास्करानन्द की जो इतनी सुख्याति हुई, अवश्य यह किसी जन्मान्तर के उत्कट पुण्य का फल था। जो पुरुष इतना प्रसिद्ध

था कि, जिसके जीवनचरित्र लिखने में काशी के सुविख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्री आदि ने अपनी प्रतिष्ठा, विद्या की सफलता तथा कृतकृत्यता समझी, उनके जीवन-चरित लिखने और सुनने की किसे लालसा न होगी? अतः हम भी उनका संक्षिप्त जीवनचरित प्रकाश कर, निज लेखनी की कण्डूति निवारण करते हैं।

जीवनी

कानपुर, ज़िले के शिवराजपुर परगने में शिवली थाने के भीतर मैथेलालपुर एक छोटा सा गाँव है। यह ग्राम छोटा होने पर भी दूर दूर तक इस लिये प्रसिद्ध है कि यहाँ के लोग प्रायः विद्वान् और कवि होते आये हैं। यहाँ पर पण्डित मिश्रीलाल मिश्र नाम के एक कुलीन कान्यकुब्ज ब्राह्मण रहते थे। उनका शाण्डिल्य गोत्र, गोभिल सूत्र, कौथमी शाखा और सामवेद था। संवत् १८६० के आश्विन मास की शुक्ला ७ की अर्द्धरात्रि में मिश्रीलाल जी के घर में एक बालक जन्मा, जिसका माता पिता ने मतिराम नाम रखा और जो भास्करानन्द सरस्वती के नाम से जगद्विख्यात हुआ।

बालक मतिराम के पिता कुछ साधारण ही सा लिखना पढ़ना जानते थे, किन्तु उनके नाना मणिराम चौबे जो उसी ग्राम में रहते थे न्यायशास्त्र के एक अच्छे पण्डित थे। अतः दौहित्र की शिक्षा का भार मणिराम जी ने अपने ही हाथ में लिया और धर्मशास्त्र की आज्ञा तथा कुल की रीति से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करा, वेद पढ़ाना आरम्भ किया। कुछ दिनों पश्चात् जब देखा कि, जन्मभूमि में मतिराम की पढ़ाई उत्तम प्रकार से न हो सकेगी; तब उन्होंने स्वामी जी को काशी में भेज दिया। वहाँ पहुँच कर, वे काव्य, कोष और व्याकरण शास्त्र पढ़ने लगे।

वारहवें वर्ष में मतिराम जी का विवाह हुआ। माता पिता के आनन्द की सीमा न रही। उनके विचार में यही आया कि, मतिराम अब सब कुछ पढ़ चुका, अब उसे घर से अन्यत्र कहीं न जाना चाहिये। किन्तु मतिराम जिस व्याकरण शास्त्र का आरम्भ कर चुके थे, वह उन्हें अपनी ओर खींचता था। क्योंकि—

"प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति"

अतः मा वाप को समझा बुझा मतिराम ने काशी में जाकर फिर पढ़ने में मन लगाया। वर्ष दिन में आप एक एक वार घर पर जाते और कुछ दिन ठहर कर फिर काशी लौट जाते थे। १७वें वर्ष में व्याकरण की यथेष्ट शिक्षा प्राप्त कर, वे घर को गये। अठारहवें वर्ष में उनके विवाह का फलस्वरूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

तव मतिमान् मतिराम सोचने लगे कि, परमात्मा की दया से माता पिता, स्त्री, पुत्र, विद्या, धन इत्यादि का लौकिक सुख जिसके लिये राजा से रङ्क तक सब मारे मारे फिरते हैं, इस समय तो सब विद्यमान है, परन्तु कल के दिन क्या होगा—इस बात को कौन कह सकता है। शरीर और विषय-सुख सब क्षणभङ्गुर हैं।

"अन्त तोहि सब तजि हैं
पामर तूँ न तजे अब ही ते !"

इस प्रकार बहुत सा विचार कर मतिराम घर द्वार छोड़ १८ वर्ष की अवस्था में, तीर्थयात्रा के निमित्त चल निकले।

उन्होने सात वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक तीर्थयात्रा की। मथुरा, वृन्दावन, अवन्तिका, द्वारिका और काशी आदि अनेक तीर्थों में पर्यटन कर, वे श्रीहरिद्वार पहुँचे और वहाँ पण्डित अनन्तराम जी

से वेदान्त शास्त्र पढ़ा। २४ वर्ष की अवस्था में वे फिर उज्जैन गये और वहाँ पूर्णानन्द सरस्वती नामक किसी दाक्षिणात्य संन्यासी से विधिपूर्वक संन्यास ले उन्होंने दण्ड ग्रहण किया। उसी दिन से आपका नाम मतिराम से भास्करानन्द सरस्वती जी हुआ। तदनन्तर वे कई वर्षों तक आनन्द से गङ्गा के तीर पर विचरते रहे; केवल दो वर्ष तक दण्ड रखा। अनन्तर कानपुर ज़िले के असनी-गोपालपुर में उसका भी परित्याग कर दिया; कोपीन मात्र पास रखी। तब से वे काशी, प्रयाग, हरिद्वार, हृषीकेश, वदरिकाश्रम आदि तीर्थों में निरन्तर घूमते रहे।

एक वार वदरिकाश्रम जाते समय अकस्मात् माता पिता और स्त्री के साथ इनका समागम भी हो गया, क्योंकि वे लोग भी वहीं जाते थे। इतने दिनों से विछुड़े हुए पुत्र और पति को संन्यासी वेश में पा कर, माता पिता और स्त्री की जो दशा उस समय हुई होगी, उसका पाठक स्वयं अनुमान कर लें। वदरिकाश्रम से लौटते समय मार्ग ही मे स्वामी जी की माता का देहान्त होगया। दैवयोग से अन्त समय में, जननी को पुत्रदर्शन का कुछ सुख मिलना था सो मिल गया।

इसके पश्चात् स्वामी जी काशी गये और दुर्गाकुण्ड पर आनन्द वाग में रहने लगे। इस समय से कौपीन का भी परित्याग कर दिया, विल्कुल दिगम्बर हो गये। जब से ये नग्न हो कर रहने लगे, तभी से इनकी ख्याति बढ़ी। रुपया पैसा हाथ से नहीं छूते थे; ज़मीन पर सोते थे, भिक्षा जो कोई ले जाता था, उसको ग्रहण करते थे। धनी और निर्धन से प्रीति पूर्वक मिलते थे। बातें बहुत करते थे। स्त्रियों के सामने और मार्ग में कमर के नीचे एक वस्त्र लपेट लेते थे। अङ्गरेज़ो और लेडियों से यूरोपियन प्रथा के अनुसार हाथ मिलाते थे। इनके सद्-

व्यवहार और वार्त्तालाप से सब अङ्गरेज़ और हिन्दुस्तानी प्रसन्न होते थे।

जो राजा महाराज काशी जाते, वे अवश्य स्वामी जी के दर्शन से कृतार्थ होते थे। आपके कितने ही राजे महाराजे शिष्य हुए, जिनमें काशिराज के कुँवर और दरभङ्गा, नागौद, अयोध्या, अमेठी इत्यादि के नृपतियों का नाम उल्लेख योग्य है। स्वामी जी की जीवित दशा में उनके नाम से अनेक मन्दिर बन गये थे, जिसमें उनकी मूर्तियों का गुरुभक्त लोग षोडशोपचार पूजन करते थे। अनेक लोगों का विश्वास था कि, उनके पास करामात है। निर्धन को धन और निस्सन्तान को सन्तान देने की उनमें शक्ति है और वे भूत-भविष्य की सब बातें जानते हैं। किन्तु स्वामी जी इन सब बातों को अस्वीकार करते थे।

एक दिन पूँछने पर स्वामी जी ने स्वर्गीय पण्डित माधव प्रसाद मिश्र (सुदर्शन-सम्पादक) से कहा था—"यह सब लोगों के विश्वास का फल है। हमने न किसी से करामात का दावा किया और न करने की वासना है एवं कर भी नहीं सकते;" तथापि कई एक आश्चर्यजनक घटनाएँ हुई हैं, जिनको देखने वालों के चित्त से यह संस्कार दूर होना कठिन है कि, वे करामाती न थे। एक घटना का उल्लेख कर, हम इस विषय को पूरा करेंगे।

एक बेर अयोध्यानरेश महाराज श्रीप्रतापनरायनसिंह काशी में आये हुए थे। गाड़ी पर उनको सब सामान भी पहुँच चुका था। किसी आवश्यक कार्य के लिये वे अयोध्या लौट जाना चाहते थे। इसी अवसर में वे अपने दीक्षागुरु से आज्ञा माँगने गये। स्वामी जी ने कहा—"आज तुम किसी प्रकार

नहीं जा सकते, आज तुम्हें यहीं रहना होगा।" महाराज ने बहुत कहा कि, आज ठहरने से हमारी बड़ी हानि होगी; तथापि स्वामी जी सम्मत न हुए और अगत्या महाराज को वहीं ठहरना पड़ा। उसी रात्रि को जिस गाड़ी में महाराज जाना चाहते थे वह जौनपुर के पास दूसरी गाड़ी से टकरा गयी। तब महाराज ने समझा कि, क्यों स्वामी जी ने हमें आज रोका था।

काशी जी में जितने यूरोपियन यात्री आते थे, प्रायः सभी स्वामी जी के दर्शन किया करते थे। होटल वालों की प्रेरणा से हो, अथवा प्रसिद्धि के कारण से हो, किम्वा देखादेखी ही हो—चाहे जिस हेतु से हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि, यूरोपियन उनके पास बहुत जाते थे। योरप के कितने ही बडे बड़े विख्यात राजकुमार ड्यूक और लार्डों ने उनके दर्शन किये। लार्ड रावर्टस और लाट्स साहब भी उनके दर्शन करने गये थे। सुना है जर्मन के सम्राट् ने विनय पूर्वक एक विशेष भृत्य भेज कर, इनका चित्र मँगवाया था और चिकागो की महासभा में वहाँ के माननीय सभ्यों ने इन्हें निमन्त्रित किया था।

वेदान्त के अमूल्य ग्रथरत्न "स्वराज्य—सिद्धि" और उपनिषदों की संस्कृत टीकाएं भी इनके नाम से सुन्दर और चिकने काग़ज़ पर प्रकाशित की गयीं और धर्मार्थ बाँटी गयीं, जिनसे अनेक लोगों का उपकार हुआ। स्वामी जी के विद्या सम्बन्धी कार्य्यों में बस एक यही लोकोपकारक कार्य है, जिसका हम यहाँ उल्लेख कर सकते हैं। बहुत लोग कहते हैं कि, यदि स्वामी जी चाहते तो बहुत कुछ परोपकार का काम कर जाते। संस्कृत-पाठशाला या कालेज बनाना उनके लिये कोई बड़ी बात न थी। उनको आज्ञा होने ही से सब कुछ हो सकता था। पर

कुछ लोगो की समझ में यह निरी भ्रान्ति है। एक दिन स्वामी जी ने स्वयं कहा था :—

"बहुत लोगों का विचार है कि, अपनी प्रतिमा पुजाने के लिये मैं लोगो को प्रेरणा करता हूँ और विद्याधर्म की उन्नति के निमित्त मैं किसी से कुछ कहता ही नहीं हूँ; पर वास्तव में यह बात नहीं है। लोग मेरा कहा नहीं करते, सब मनमानी कर रहे हैं। मैंने कई भलेमानसो को मना किया कि, वे मेरी मूर्त्ति प्रतिष्ठित न करे, पाठशाला बनवावें, पर मेरे इस निषेध ही को उन्होने प्रवर्त्तक और निजवंश का वर्द्धक समझा! पहले तो मैं लोगों से कहा भी करता था; फिर समय का रग देख उदासीन हो गया।"

स० १६५६ में आषाढ कृष्णा १३शी बुधवार को स्वामी जी के शरीर में विषूचिका रोग हुआ। संवाद पाते ही दूर दूर से बडे बडे गुरुभक्त शिष्य आ कर, उपस्थित हुए। खूब सेवा शुश्रूषा की, किन्तु "बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा"। तीसरे दिन रविवार की अर्द्ध रात्रि में स्वामी जी का कैलासवास हो गया और उनके आज्ञानुसार, (जो कि वे शरीर छोडने के पूर्व अपने शिष्यो को दे गये थे) उनका शव आनन्दबाग़ की बारहदरी में समाधिस्थ, किया गया। इनकी मृत्यु के पश्चात् काशी वस्तुतः श्रीहीन हो गयी। अब ऐसे स्वामी काशी में एक भी नहीं हैं, जिनके दर्शनो के निमित्त दूर दूर से लोग आवें।

" रङ्क राव दरबार के
गये बीरबर साथ।"

श्रीरङ्गाचार्य जी

जो लोग अपनी विलक्षण विद्या बुद्धि के कारण देश देशान्तर में बहुत प्रसिद्ध हो चुके हैं, जो अपने धर्म और न्याय-मार्ग पर दृढ़ रहे हैं; जिन्होने परोपकार के लिये, स्वार्थ परित्याग किया है और जिनको सहस्रो मनुष्य सिर झुकाने मे अपना कल्याण समझते हैं; उनके जीवन-चरित पढ़ने या सुनने की किसकी इच्छा न होगी। अतः ऐसे लोगों में से एक सुप्रसिद्ध महानुभाव वृन्दावन के श्रीस्वामी रङ्गाचारी की भी संक्षिप्त जीवनी लिख, हम अपने को कृतार्थ करते हैं।

जन्म-भूमि

वह देश धन्य है जहाँ हृदय का रक्त सींच कर, जन्मभूमि की पूजा करने वाले महावीर उत्पन्न हुए हैं। वह देश प्रशंसनीय है, जहाँ दीनो के दु ख से दुःखित होने वाले दयालु उत्पन्न हुए और उस देश की मट्टी मस्तक पर चढ़ानी चाहिये, जहाँ विद्वान् पण्डितों ने जन्म ले, देश की अविद्या को दूर किया। आज हम क्यों न दक्षिण देश के गुण गावें; जिसने शङ्कर, रामानुज, देशिक, वल्लभ, माध्व, तैलिङ्ग प्रभृति आचार्यों को उत्पन्न किया? क्यो न हम उस देश के कृतज्ञ हों, जहाँ के पाण्डित्य से भारतवर्ष पाण्डित्य-पूर्ण हुआ?

यदि राजपूताने की वीरभूमि को वीरप्रसविनी होने का

अभिमान है, तो दक्षिण की पुण्यभूमि भी विद्वद्जननी कहलाने का अधिकार रखती है। यदि राजपूताने में ऐसे प्रतापी वीर उत्पन्न हुए हैं कि, जिनकी कृपाण से हिन्दू धर्म-विरोधियों के छक्के छूट गये, तो दक्षिण में भी ऐसे प्रभावशाली सत्पुत्रों ने जन्म लिया कि, जिनके शान्त उपदेश से वेदविरोधी पुरुष आपसे आप हिन्दूधर्म की शरणागत हो गये। यह सम्भव है कि, किसी शताब्दी में राजपूताने में कोई वीर प्रकट न हुआ हो, किन्तु यह असम्भव है कि, कोई शताब्दी पण्डितो से ख़ाली चली जाय, जो हो।

दक्षिण के द्रविड़ प्रदेश में पूर्व कर्णाटक के तुण्डीर मण्डल में शास्त्रप्रसिद्ध एवं परमपुनीत सत्यव्रत-क्षेत्र है। जिसकी सप्तपुरियो में प्रसिद्ध काञ्चीपुरी शोभा बढ़ा रही है। उससे पाँच कोस पूर्व दिशा में अहरम नामक एक ग्राम है। वहीं श्रीरङ्गाचार्य जी के पूज्य पिता श्रीनिवासाचार्य जी का निवास था। ये वाधूल गोत्री थे और इनका यजुर्वेद, आपस्तम्भ सूत्र और श्रीरामानुजीय मत था।

श्रीनिवासाचार्य जी के तीन पुत्र हुए। प्रथम वेंकटाचार्य जी, द्वितीय वरदाचार्य जी और तृतीय श्रीस्वामी रङ्गाचार्य जी।

श्रीनिवासाचार्य जी के कनिष्ठ पुत्र श्रीस्वामी रङ्गाचार्य जी का जन्म, संवत् १८६४ की कार्त्तिक कृष्णा ६ को पुनर्वसु नक्षत्र में त्रिवरण्डा नामक ग्राम में मातामह के घर में हुआ, यह गाँव कर्णाटक देश के अन्तर्गत काञ्चीपुरी से कुछ ही दूर है।

विद्याध्ययन

कुछ दिनों पीछे स्वामी जी के माता पिता, स्वामी जी को मातामह के घर से अपने निज स्थान अहरम ग्राम में लेगये। वहीं इनका लालन पालन हुआ। पाँचवें वर्ष में अक्षराभ्यास कर, सातवें वर्ष तक इन्होंने पूर्वाचार्य्यों के स्तोत्र और अमरकोष आदि उपयोगी एवं अन्य ग्रन्थ कण्ठ किये। अष्टम वर्ष में इनका उपनयन संस्कार हुआ। तब से ये निज शास्त्रो का अध्ययन करने लगे। सोलहवें वर्ष तक, इन्होंने यजुर्वेद संहिता को समाप्त कर, व्याकरण और काव्य में मन दिया। व्याकरण में इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों में ऐसा अच्छा अभ्यास किया कि, जिससे इनकी प्रतिभा लोगो को चकित करने लगी।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात"—इस लोकोक्ति के अनुसार इनकी बुद्धि का चमत्कार देख कर, वहाँ के विचार-शील अध्यापक पण्डित "ऐयास्वामी ऐयङ्गार" को निश्चय हो गया था कि, किसी समय श्रीस्वामी रङ्गाचार्य बड़ी प्रतिष्ठा लाभ करेंगे। कहते हैं कि, एक दिन जब ये ऐयङ्गार स्वामी से दिनकरी-न्याय पढ़ रहे थे, तब इन्होंने "एकत्व"[1] का ऐसा अच्छा अनुगमन किया कि, उसको सुन अध्यापक ऐयङ्गार ने आश्चर्य और आनन्द में मग्न हो कर, कहा कि "बस अब हम तुम्हें न्याय नहीं पढ़ा सकते! जिस बात को अभी हम समझे नहीं उसे तुम दूसरों को समझा सकते हो।"

---

[1] वृन्दावन के प्रसिद्ध न्यायकेसरी श्री सुदर्शन शास्त्री जी ने यह अनुगम जीवनी-लेखक को बतलाया भी था। किन्तु यह न्यायशास्त्र का एक सूक्ष्म विचार है, अतः दुर्बोध होने से यहाँ पर नहीं लिखा गया।

संवत् १८८५ में जब इनकी तृप्ति वहाँ के अध्ययन से नहीं हुई ; तब ये दक्षिण से विद्यापीठ काशी में पढ़ने आये और यहाँ इन्होंने प्रसिद्ध नैयायिक पण्डित अभयचरण भट्टाचार्य जी से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। काशी जी में ये एक साधारण विद्यार्थी की तरह अपना निर्वाह करते थे। चातुर्मास्य में प्रतिवत्सर माण्डा[1] राजधानी में वार्षिक लेने जाते और वहाँ आगन्तुक विद्यार्थी एवं पण्डितों से शास्त्रार्थ कर बड़ाई पाते थे। गादाधरी और जागदीशी पर इनकी अद्भुत विवेचना सुन कर, पण्डित-मण्डली इन्हें साधुवाद दिया करती थी।

यद्यपि इस समय ये छात्रसमाज में पूजित और पण्डित मण्डली में प्रशंसित थे ; तथापि जिस ढङ्ग से और जिस दशा में रह कर स्वामी श्रीरङ्गाचारी जी अपने भोजन आच्छादन का प्रबन्ध किया करते थे, वह एक राजगुरु के योग्य न था, पर इसमें सन्देह नहीं कि, इनका भावी प्रताप भी उसीका फल था। कोई यह न समझे कि, स्वामी श्रीरङ्गाचार्य इस लिये भारत-प्रसिद्ध विद्वान् हुए कि उनके अनेक धनीपुरुष शिष्य थे, जिनके द्रव्य की सहायता से उन्होंने विद्या का सञ्चय किया होगा। नहीं, यह बात नहीं है। काशी जी में उस समय न कोई उनका धनी शिष्य था और न तब तक मथुरा के जगत्प्रसिद्ध सेठ घराने से उनका कुछ सम्बन्ध ही हुआ था। उनके पास धन था तो यह था कि, सब ग्रन्थ "नुमायशी" न थे ; किन्तु उपस्थित थे। वैभव यह था कि, इन पर गुरु की पूर्ण कृपा थी। यह सच है कि, इनको अपने अन्न वस्त्र के लिये कभी विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। इसका कारण यह नहीं है कि, इनके पास कुछ पार्थिव

---

१ यह प्रयाग के अन्तर्गत मेजा के परगने में है।

धन वा द्रव्य था, किन्तु इन्हें विद्योपार्जन के विचार से इस प्रकार की अलीक चिन्ता का अवसर ही बहुत कम मिलता था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि, एक दिन जिनकी सेवा में बड़े बड़े राजा महाराजा तत्पर हुए, वे कभी कभी अपने निर्वाह के लिए माँड़ा जैसी राजधानियों में जाते थे। जिनकी आज्ञा मात्र से एक दिन लाखों के मन्दिर बन गये, वे कभी एक साधारण से स्थान में कालयापन करते थे। उस समय कौन कह सकता था कि, वे ही विद्यार्थी श्रीरङ्गाचार्य एक दिन अपनी इसी ब्राह्मी सम्पत्ति के प्रभाव से श्रीवृन्दावनधाम के—नहीं नहीं, भारतवर्ष के स्वनामधन्य स्वामी श्रीरङ्गाचार्य होंगे?

स्वप्न

एक दिन श्रीरङ्गाचार्य जी ने स्वप्न में देखा कि, वे वरुणा नदी पर सन्ध्योपासन कर रहे हैं। उसी समय एक भयङ्कर भैंस, इन पर प्रचण्ड वेग से आक्रमण करने आयी। ये भयभीत हो रक्षा के लिये आश्रय खोजने लगे। पर वह नहीं मिला। जब पूर्व की ओर जाने लगे, तब भैंस ने मार्ग रोक लिया। दक्षिण को चले, तो वहाँ भी भैंस आगे पहुँची। तब यह उत्तर की ओर बढ़े, पर हाय! उधर भी भैंस ने इन्हें न जाने दिया। अन्त को अनन्य गति हो इन्होंने पश्चिम में पलायन किया; तब देखा कि भैंस इनका पीछा छोड़ कर चली गयी।

नेत्र खुलने पर इन्होंने देखा कि, इनका हृदय काँप रहा है। भैंस नहीं, पर भैंस का भय वर्त्तमान है। एक झूठे स्वप्न का प्रभाव अपने पवित्र शरीर पर देख कर, इनके चित्त में चिन्ता उत्पन्न हुई कि, इसका कारण क्या है? इन्होंने प्रायः समय सर्वसन्देह-हर्त्ता श्रद्धाभाजन वृद्ध गुरु श्रीअभयचरण भट्टाचार्य जी के पास

जा इसका फल पूँछा। उन्होंने कहा—"वत्स! यह स्वप्न सच्चा है। अब तुम काशी परित्याग करो और स्मरण रखो कि दक्षिण, पूर्व एवं उत्तर दिशा से तुम्हें कुछ लाभ नहीं है। तुम्हारा भाग्योदय—तुम्हारी सद्विद्या का प्रकाश पश्चिम दिशा में होगा। अब तुम शीघ्र ही यहाँ से प्रस्थान करो। यद्यपि तुम्हारे जैसे गुरुभक्त विद्यार्थी संसार में दुर्लभ हैं, तथापि भगवान् की यही इच्छा है।

अपने विद्यागुरु आप्तपुरुष महात्मा भट्टाचार्य जी के वाक्य पर इनका वेदवाक्यवत् विश्वास था। ये उनकी आज्ञा को ईश्वर की आज्ञा समझते थे। न इनको विद्या के प्रकाश की लालसा थी और न भाग्योदय की चिन्ता। इनका सिद्धान्त यही था कि, विद्योपार्जन ही ब्राह्मण का परम तप और वही उसका परम धन है। विद्याध्ययन जैसा काशी में सुलभ है वैसा अन्यत्र कहाँ? इस लिये काशी जी को परित्याग करना, इनके लिये कुछ सहज न था, तथापि इन्होंने उसी समय विद्यापीठ काशी जी को छोड़ दिया; परन्तु विद्यागुरु की आज्ञा को न छोड़ा!

गोवर्द्धन की गद्दी

ब्रजमण्डल में गिरिराज गोवर्द्धन एक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ मानसी गङ्गा पर सदा से अनेक भगवद्भक्त विरक्त वैष्णव रहते आये थे। एक छोटे से मन्दिर के स्वामी, श्रीनिवासाचार्य जी का भी वहीं निवास था। संवत् १८९० में काशी जी से स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी वहीं जाकर टिके, स्वामी श्रीनिवासाचार्य इनके गुणो पर मोहित हो गये। वे जिस गद्दी के मालिक थे वह गोवर्द्धन गद्दी के नाम से विख्यात थी और वहाँ यह नियम

था कि, गद्दी का स्वामी किसी वाधूल गोत्री, द्राविड़, श्रीवैष्णव को उत्तराधिकारी बनया जाता था। इनमें ये सब बातें विद्यमान् थीं। अतएव वे गोवर्द्धन की गद्दी इन्हींको दे गये; जो इनके कारण भारतवर्ष के श्रीवैष्णवों में अति प्रसिद्ध हो गयी।

मथुरा के सेठ

मथुरा के सेठ राधाकृष्ण जी जैन वैश्य थे। इनके बड़े भाई प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचन्द जी और कनिष्ठ सेठ गोविन्द दास जी थे। सेठ राधाकृष्ण जी ने इसी समय स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी की बहुत प्रशंसा सुनी। दर्शन करने पर उन्हें और भी बढ़ कर पाया। इन दिनों स्वामी जी कभी वृन्दावन रहा करते और कभी गोवर्द्धन में। श्रद्धालु सेठ जी भी उनका भक्तिमय उपदेश सुनने दोनों स्थानों में पहुँचा करते थे। श्रीवैष्णवधर्म की उत्तमता देख वे संवत् १८९२ में स्वामी जी के शरणागत हुए सही, पर बड़े भाई सेठ लक्ष्मीचन्द जी के भय से गुप्त रीति पर हुए। परन्तु सेठ राधाकृष्ण की गुरुभक्ति और अनन्य वैष्णवता कब तक गुप्त रह सकती थी? वह संसार में प्रसिद्ध हुई और ऐसी हुई कि, आजकल के संसार में जिसका जोड़ मिलना कठिन है।

श्रीरङ्गजी का मन्दिर

सेठ राधाकृष्ण जी ने स्वामी जी की आज्ञा से श्रीरङ्ग जी का एक मन्दिर गोवर्द्धन जी में बनवाया और एक श्रीवृन्दावन में। ये पहिले मन्दिरों से बड़े और सुन्दर होने पर भी व्रजमण्डल में उल्लेख योग्य न थे। इनसे स्वामी श्रीरङ्गाचार्य्य जी का परितोष न देख, सेठ राधाकृष्णजी ने श्रीरङ्गजी का वह प्रसिद्ध

मन्दिर बनवाया, जो ब्रजमण्डल ही मे नहीं; किन्तु भारतवर्ष भर में दर्शनीय और गणना योग्य है। तन मन धन को अर्पण करने करानेवाले अनेक शिष्य गुरु सुने हैं; किन्तु सेठ राधाकृष्ण के समान सर्वस्व अर्पण करने वाला शिष्य और उसको शुभकार्य में लगानेवाले स्वामी श्रीरङ्गाचार्य्य जैसे गुरु मिलना कठिन है।

हम कह चुके हैं कि, सेठ राधाकृष्ण जी अपने जैन धर्मावलम्बी ज्येष्ठ सहोदर लक्ष्मीचन्द जी के भय, लज्जा या स्नेह से गुप्त रीति पर श्रीवैष्णव हुए थे, इस लिये वे अपने नाम से मन्दिर बनवाने में असमर्थ थे। अगत्या उन्होने हैदराबाद के मारवाडी वैष्णव सेठ पूरनमल जी के नाम से मन्दिर बनवाना आरम्भ किया। राधाकृष्ण ने अपने पास के बीस पचीस लाख रुपये ख़र्च कर डाले, पर मन्दिर छत तक भी न पहुँचा। जब सेठ लक्ष्मीचन्द जी को यह रहस्य ज्ञात हुआ कि, यह अधूरा मन्दिर उन्हींके बन्धुप्रिय सहोदर का है, तब उन्होने साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता को परित्याग कर, अपने आप शेष मन्दिर को पूरा किया। मन्दिर की तैयारी में अनुमान पैंतालीस लाख रुपये और भगवान् के भोगराग के निमित्त एक करोड़ से अधिक व्यय हुए।

यद्यपि सेठ लक्ष्मीचन्द जी और उनके पुत्र सेठ रघुनाथ दास जी समाश्रय नहीं हुए थे, तथापि उनकी श्रीवैष्णव धर्म में श्रद्धा थी, उनकी स्वामी श्रीरङ्गाचार्य्य में भक्ति थी और इनका उपदेश भी वे बडी प्रीति के साथ सुना करते थे एवं श्रीवैष्णव-सेवा से भी वे कभी पराङ्मुख नहीं हुए, परन्तु सेठ रघुनाथ दास जी प्रकाश्य रीति पर श्रीवैष्णव हुए और सेठ राधाकृष्ण के समान सब प्रकार उन्होने श्रीवैष्णव धर्म का पालन किया।

यह सब श्रीरङ्गाचार्य जी की अघटन-घटना-पटीयसी सद्विद्या और भगवद्भक्ति का प्रताप था, जिसने व्रजमण्डल में युगान्तर कर दिखलाया। हमारे विचार में स्वामी जी यदि और कोई धर्म का कार्य न भी करते, तो एक यही कार्य, अर्थात् जैन मतानुयायी सेठों को शिष्य कर वैदिक बनाना ही ऐसा कार्य है, जिसका ऋण भारतवर्ष भर के हिन्दू शीघ्र नहीं चुका सकते। साथ ही सेठों की गुरुभक्ति और उदारता भी श्लाघ्य है। उन्होंने ऐसी उदारता से मन्दिर बनवाया कि, उसके आकार प्राकार को देख अनेक कोट्याधीश नरपतियों के छक्के छूट जाते हैं और वृन्दावन में उसकी टक्कर का दूसरा मन्दिर बनवाने का साहस नहीं होता।

विद्या-प्रेम

गोवर्द्धन की गद्दी पाने के पीछे बड़े आदमियों के निकृष्ट गुरुओं की तरह न तो उनको निश्चिन्त हो, तबले सारङ्गी से मिलने का अवसर मिला और न उन्होंने अध्ययनाध्यापन ही को छोड़ा। प्रत्युत नदिया के महाविद्वान् गोलोकवासी न्यायरत्न भट्टाचार्य्य के शिष्य सुविख्यात पण्डित पार्वतीचरण भट्टाचार्य्य जी से न्यायशास्त्र की विवेचना पढ़ी और टोंक के शास्त्रार्थ-विजयी पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री जी से निरन्तर विद्याभ्यास किया।

जब सेठ जी इनके शिष्य हुए, तब से ये बराबर काशी जी जाया करते, सभा में शास्त्रार्थ सुना करते और कभी कभी आप भी खूब शास्त्रार्थ कर, उनसे साधुवाद पाते। इनके यहाँ पण्डितों का सत्कार राजदर्बारों के समान होता था। पण्डित लोग इस विद्या-प्रिय दाता के दर्शन के लिये उत्सुक रहते और

आप भी उनमें स्नेह रखते थे। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् काशीनाथ शास्त्री को उनके साथ शास्त्रार्थ कर, कई बार चकित होना पड़ा था। स्वामी श्रीरङ्गाचार्य्य जी कितने बड़े बड़े अध्यापक और शिष्यों के प्राणप्रिय थे, इस बात का पता उनको अब भी लग सकता है; जिन्हें कभी वृन्दावन के विद्वद्वर श्रीपण्डित सुदर्शन शास्त्री आदि उनके अनेक विद्वान् शिष्यो से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो और जिन्होंने कभी उनके पुस्तकालय का निरीक्षण किया हो।

शास्त्रार्थ

स्वामी जी ने कई जगह बड़ी धूमधाम से शास्त्रार्थ किये। बूँदी के परम प्रतापी पण्डितप्रिय, विद्वान् महाराज स्वर्गवासी रामसिंह जी के निमंत्रित करने पर, स्वामी जी वहाँ पधारे थे। उस समय वहाँ श्रीवैष्णव धर्म के खण्डन मण्डन के विषय में बड़ा शास्त्रार्थ हुआ था। स्वामी जी का असाधारण पाण्डित्य देख कर, महाराज रामसिंह जी इनके समाश्रय हुए और इनका बड़ा सत्कार किया था। स्वामी जी के साथ उस समय चार सौ श्री-वैष्णवों की भीड़ थी। संवत् १८२१ ई० में जयपुर के महाराज रामसिंह जी ने श्रीवैष्णवो से सम्प्रदाय विषयक आठ प्रश्न किये थे, जिनके उत्तर श्रीवैष्णवों की ओर से स्वामी जी ने "दुर्जनकरि-पञ्चानन" द्वारा दिये थे। इनके पीछे जयपुर नरेश की ओर से उत्तर में 'सज्जनमनोरञ्जन" प्रकाश किया गया। तब से इधर संवत् १९२६ में इसका प्रत्युत्तर "व्यामोहविद्रावण" नामक ग्रन्थ से दिया गया। यद्यपि "सज्जनमनोरञ्जन" की अपेक्षा "दुर्जन-करिपञ्चानन" आदि स्वामी जी की पुस्तकों के नामानुसार लेख-प्रणाली भी कुछ कठोर है और स्वामी जी ने श्लिष्ट पदो

में जयपुरनरेश और स्वामी लक्ष्मणगिरि जी के प्रति कठोर वाक्यों का प्रयोग किया है, तथापि जिस समय जयपुरनरेश के दौर्दण्ड से भीत वैष्णव-मण्डली में "त्राहि माम्" की पुकार पड़ रही थी, जिस समय महाराज रामसिंह जी की कोपाग्नि में जयपुर राज्य के वैष्णवो की पैतृक सम्पत्ति स्वाहा हो रही थी, जिस समय पूर्वजों के दान और भयङ्कर ब्रह्मस्व से जयपुरनरेश राज्यकोष की वृद्धि कर रहे थे और इस रुद्रयाग के अद्वैतवादी संन्यासी स्वामी लक्ष्मणगिरि आचार्य और गौड़कुल सम्भूत पण्डित हरिश्चन्द्र आदि ऋत्विक् आदि का कार्य कर रहे थे, उस समय पर-दुःख-कातर ब्राह्मण श्रीरङ्गाचार्य जी ने एक महाराज के प्रति केवल लेख में प्रचण्डता दिखलाई तो क्या अनर्थ किया ? स्वामी जी ने तो केवल भाषा में कठोरता दिखलाई, पर जयपुर के श्रीवैष्णव धर्मद्वेषियों ने पुस्तकों के नाम रखने एवं भाषा में कोमलता लाने में जितनी बाहिरी सज्जनता दिखलाई, उससे कहीं बढ़ कर असज्जनता और कठोरता उन श्रीवैष्णवो के प्रति प्रदर्शित की जो जयपुर राज्य के आश्रित और वहाँ रहते थे।

ग्रन्थ-विचार

स्वामी जी ने "दुर्जनकरिपञ्चानन" और "व्यामोहविद्रावण" के अतिरिक्त और भी "दुर्जनमुखमङ्गचपेटिका" आदि खण्डन मण्डन विषयक ग्रन्थों की रचना की थी। पूर्वाचार्यों की सहस्रगीति जो द्रविड़ देश की भाषा में है, स्वामी जी ने उसका संस्कृत में सुन्दर अनुवाद और उस पर एक बड़ा भाष्य बनाया, जिसमें श्रीसम्प्रदाय का तत्व भरा है। न्यायशास्त्र में सामान्य निरुक्ति, सत्प्रतिपक्ष, सव्यभिचार और साधारण की विवेचना

वनायी । इनमें से प्रथम ग्रन्थ उनके सत्‌शिष्य वृन्दावनस्थ श्री· पण्डित सुदर्शन शास्त्री जी द्वारा वम्बई में छप चुका है। इसके देखने से भ्रम होता है कि, यह गोलोक सदृश पाण्डित्य इस लोक में क्योकर आया । विवेचना के प्रत्येक पृष्ठ में ग्रन्थकर्त्ता को विद्या वुद्धि प्रतिविम्वित हो रही है ।

स्वार्थत्याग

मथुरा के सेठ जी ने पैतालीस लाख का मन्दिर और उसकी डेढ़ करोड़ की विभूति स्वामी जी को भेंट की । उसमें स्वामी जी ने अपना किसी प्रकार का स्वत्व नहीं रखा । स्वामी जी को वैकुण्ठयात्रा के पूर्व इस वात की चिन्ता हुई कि, यह सारा वैभव हमारा नहीं भगवान् का है । कहीं ऐसा न हो कि, हमारे पीछे कोई हमारे कुल में उत्पन्न होने वाला इसे कुमार्ग में नष्ट कर दे ! अन्त को उनका यह विचार सिद्धान्त में परिणत होगया और वे मन्दिर की रक्षा का भार ट्रस्टियों की एक कमिटी को दे गये और अपने को और अपनी होनहार सन्तति को श्रीवैष्णवों के भरोसे छोड़ दिया । इनके उस दानपत्र (वसीयत नामे) से, जिसके द्वारा मन्दिर का सारा अधिकार कमिटी के हस्तगत हुआ, उनके भगवत्प्रेम, असाधारण त्याग और महत्व का अच्छा परिचय मिलता है। हमारी सम्मति में महात्मा श्रीरङ्गाचार्य का यह स्वार्थत्याग निष्फल नहीं है ; क्योंकि :—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु,
प्रमाण अन्तःकरण प्रवृत्तयः ।

उदारता

वहुधा देखा गया है कि, पञ्चद्रविड़. पञ्चगौड़ो को हेय और तुच्छ दृष्टि से देखते हैं , दाक्षिणात्यो का यह कुसंस्कार यहाँ

तक प्रश्रय पा गया है कि, दक्षिण के अधिकांश श्रीवैष्णव इस असज्जनोचित कुसंस्कार के फेर में पड़ गये हैं। जो श्रीवैष्णव धर्म मनुष्यो को सङ्कीर्ण मार्ग से निकाल, अपने प्रशस्त प्राङ्गण में निरपेक्षभाव से स्थान देता था ; अब वह इन कतिपय सङ्कीर्ण-मना श्रीवैष्णवों की करतूत से स्वयं सङ्कीर्ण हो रहा है।

कितने दुःख और क्षोभ का विषय है कि जिस धर्म में एक दिन हरिभक्त श्वपच भी पूज्य समझा जाता था; जिसमें "यत्-किञ्चभूतं प्रणयेदनन्यः" का उद्घोष होता था और जिस धर्म में हरिभक्तो का दासानुदास होना ही परम कर्त्तव्य था, अब उसी आदरणीय श्रीवैष्णव धर्म में जात्याभिमान और आत्म-गरिमा के कारण उत्तरादि श्रीवैष्णवो का खुलंखुल्ला तिरस्कार हो रहा है। दाक्षिणात्य, उत्तरादियों के हाथ का महाप्रसाद तक नहीं लेते, उन्हें आसन देना और प्रणत होना तो बात ही दूसरी है। दाक्षिणात्य में चाहे विद्या न हो, भगवद्भक्ति का चाहे लेश तक न हो, तथापि वह इस लिये बड़ा है कि उसका जन्म दक्षिण में हुआ है। यह पतित-पावन श्रीवैष्णवधर्म अब पवित्रों को पतित करने का साधक है कि बाधक—यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी इस सङ्कीर्णता और अहङ्कार से कोसो दूर थे। उनके समीप दक्षिणी और उत्तरादी सब तुल्य थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी जानते थे कि, यदि दक्षिण उत्तर की उत्तमता पर विचार किया जायगा, तो उत्तर ही उत्तम ठहरेगा। क्योंकि दक्षिणायन से उत्तरायण-काल उत्तम है और दक्षिण-मार्ग (पितृयान) से उत्तर-मार्ग (देवयान)। दक्षिण में कृष्णा, कावेरी और उत्तर में गङ्गा, यमुना हैं, वहाँ काञ्ची है तो यहाँ अयोध्या, मथुरा ; वहाँ सब आलवार हुए, तो यहाँ उनके उपास्य

सब अवतार प्रकटे ! फिर उत्तर दक्षिण से किस बात में कम है, यह बात समझ में नहीं आती। अब रह गयी आचार विचार की बात। यदि कोई बात इस देश में जघन्य है, तो कोई कोई उस देश में भी ऐसी है कि, जो इधर अत्यन्त ही बुरी समझी जाती है।

अस्तु, वृन्दावन में एक गौड़वंश-सम्भूत शठकोप स्वामी रहते थे। वे परम भागवत, परम शान्त और परम निस्पृह थे। स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी इन्हें गुरुवत् मानते थे और वे भी इन्हें प्राणप्रिय जानते थे। शठकोप स्वामी की, स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी अपने हाथ से सेवा करते थे और वे इसीसे अपने को कृतकृत्य समझते थे। उनके विना न इन्हें आनन्द मिलता और न इनके विना उन्हें कल पड़ती थी। संवत् १९२७ में शठकोप स्वामी जी का वैकुण्ठवास हुआ, तब स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी ने अपने हाथ से उनका और्द्धदेहिक कृत्य कर, उदारता की पराकाष्ठा दिखला दी। औरों की दृष्टि में चाहे यह छोटी सी बात समझी जाय, पर हम इसे बहुत बड़ी समझते हैं। कहाँ राजमान्य श्रीरङ्गाचार्य और कहाँ भिक्षुक शठकोप स्वामी ?

मृत्यु

जिस दिन से शठकोप स्वामी का शरीर पूरा हुआ, उसी दिन से श्रीरङ्गाचार्य जी ने अन्न भोजन करना छोड़ दिया। कन्द-मूल फल से अपना निर्वाह करने लगे। एकान्त उनको प्यारा हो गया और जनसमाज उदासीन। अन्त को सन् १९३० ई० की चैत्र सुदी १० गुरुवार के दिन वह सूर्य्य जो दक्षिण और उत्तर पर समान भाव से अपनी किरण पहुँचाता था, सदा के लिये अस्त हो गया। वह श्रीवैष्णवसिंह, जिसकी धाक से धर्म

विरोधी काँप रहे थे, इस धरा से चल बसा! स्वामी जी के लोकान्तरित होने से श्रीवैष्णव समाज की जो हानि हुई उसकी पूर्त्ति होना इस समय असम्भव सो प्रतीत होती है।

स्वभाव

स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी के एकमात्र पुत्र श्रीनिवासाचार्य थे, जो स्वामी जी की गद्दी के अधिकारी हुए। स्वामी श्रीरङ्गाचार्य जी में बहुत गुण थे। वे दयालु, अनन्य श्रीवैष्णव और धर्म के दृढ़ विश्वासी थे। न्याय वेदान्त के बड़े विद्वान् थे, पर कविता भी उनकी चमत्कार-शून्य न थी। पद्यरचना की अपेक्षा वे गद्यरचना में सिद्धहस्त थे। स्वभाव में कुछ कुछ उग्रता अवश्य थी; किन्तु वह तेजस्विता से रिक्त न थी। इनके गुण-समुद्र की थाह लेना असम्भव है। इनकी बहुत सी बातें हैं, जो पाठकों के लिये अनूठी और भक्तों के लिये अमूल्य रत्न हैं।

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव

बङ्गाल प्रान्त के हुगली ज़िले में कमरपूकर नामक एक छोटा सा ग्राम है। वहीं पर ईसवी सन् १८३३ में ता० २० फरवरी अर्थात् १७५६ शकाब्द की फाल्गुण सुदी द्वितीया बुधवार को परमहंस जी का ब्रह्मकुल में जन्म हुआ था। इनके माता पिता का शील स्वभाव भी प्रशंसनीय था। पिता का नाम खुदीराम चट्टोपाध्याय और माता का नाम चन्द्रमणि देवी था। खुदीराम बाबू सरल-स्वभाव, धर्मनिष्ठ, जपपरायण भगवद्भक्त पुरुष थे। कमरपूकर में यद्यपि बड़े आदमी या उच्चजाति के लोग अधिक नहीं थे, तथापि जो थे; वे सब उनको देवता के समान समझते थे। चट्टोपाध्याय की सुशीला और सद्गुण-सम्पन्ना स्त्री का ऐसा दयार्द्र स्वभाव था कि, चाहे आप क्षुधित रह जाय, पर वह किसी और को भूखा नहीं देख सकती थी। क्षुधातुर को देखते ही वह जो घर में पाती उसे तत्क्षण दे डालती थी। उसके गर्भ से तीन पुत्र जन्मे। बड़े रामकुमार, मझले रामेश्वर और छोटे रामकृष्ण थे।

इनके कुलदेवता श्रीभगवान् रामचन्द्र जी थे। चट्टोपाध्याय जी सर्वदा उन्हींका भजन स्मरण किया करते। एक बार जब वे गया जी गये, तब कहते हैं कि, वहाँ के अधिष्ठातृ देव भगवान् गदाधर जी ने स्वप्न में इनसे कहा—"तुम्हारे घर में मेरा तेज प्रकट होगा।" गयायात्रा के बाद परमहंस जी का जन्म हुआ। हरिभक्त पिता ने स्वप्न की बात स्मरण कर, पुत्र का नाम गदाधर रखा था। पीछे से उनका रामकृष्ण नाम पड़ गया।

लड़कपन में परमहंस जी दुवले पतले थे, किन्तु देखने में उज्ज्वल गौरवर्ण, सर्वप्रिय और अत्यन्त मधुरभाषी थे। खेल कूद में उनका बहुत मन लगता था। परमहंस जी के खेलों में बहुधा श्रीकृष्ण को उन लीलाओ का अनुकरण होता था, जिनकी या तो वे कथा सुन पाते या जिन्हें वे रासलीला में देख लेते। देवता सम्बन्धी गान या भजन भी एक वार के सुनने से वे उसे गाने लगते थे। परमहस जी का स्वर लड़कपन ही से रसीला था। जैसा उनको इन सब बातों का चाव था, वैसा ही चित्र लिखने और मूर्त्ति वनाने का भी था। वे देवो देवताओं की अनेक प्रकार को प्रतिमा लिखा करते और मिट्टी की भी वनाते थे तथा दूसरे प्रेमियों को दिखा कर उनका भाव समझाया करते थे।

इनके गाँव में लाहा नामक किसी वङ्गाली परिवार की धर्म्मशाला थी। उसमें आते जाते वहुत से पथिक उतरा करते थे। विशेषतः जगन्नाथ जी का मार्ग इसी गाँव में जाने के कारण वहाँ साधु सन्तों का वड़ा समागम होता था। कौतुकाकृष्ट वालक रामकृष्ण वहुधा उन्हें देखने जाते और उनकी बातें ध्यान से सुना करते थे। एक वार साधुओं की देखादेखी इस अनु-करण-प्रिय वालक ने अपने कपडे फेंक, वैसी ही लँगोटी लगा ली और हँसते हँसते अपने वडे भाई रामकुमार और स्नेहमयी माता से आकर कहा—"देखो मैं कैसा अच्छा साधु वना हूँ।" वालक का स्वाँग देख कर, रामकुमार हँसने लगे और माता ने उसका मुख चुम्बन किया। पर यह किसी ने नहीं जाना कि, इसका यह स्वांग, स्वांग नहीं है, किन्तु सच्चा रूप है। यह विरक्त भाव का अङ्कुर एक दिन अपने स्वरूप का इतना विस्तार करेगा कि, जिसके आश्रय में सहस्रों सन्तप्त प्राणियों को आश्रय मिल सकेगा।

लिखना पढ़ना परमहंस जी को लड़कपन ही से नहीं रुचा; बारह वर्ष तो खेल ही में बिता दिये, फिर कहने सुनने से पढ़ने भी लगे, सो भी मन से नहीं। यहाँ तक कि, बङ्गला भाषा भी अच्छी तरह नहीं सीखी। उनके हाथ की लिखी एक बङ्गला रामायण है, यही उनके लिख पढ़ सकने का प्रमाण है। जिस समय यह पाठशाला में भेजे गये, उस समय इन्होने कहा था 'मैं लिख पढ़ कर क्या करूँगा? इसका फल रुपया पैसा व दो चार मुट्ठी अन्न के सिवा और क्या है? जिस विद्या का फल कनक कान्ता है, उसको मैं नहीं पढ़ूँगा। मुझे ऐसी विद्या चाहिये, जिसका इनसे सम्बन्ध न हो"।

कलकत्ते के झामापूकर नामक स्थान में परमहंस जी के बड़े भाई रामकुमार चट्टोपाध्याय, एक पुराने ढंग की संस्कृत पाठशाला स्थापन कर, विद्यार्थियो को पढाया करते थे। लिखने पढ़ने के नाम से रामकृष्ण भी वहाँ भेजे गये। किन्तु यहाँ आने पर भी इनका मन जैसा चाहिये था, वैसा पढ़ने में नहीं लगा। यहाँ पड़ोस की स्त्रियाँ इनसे विशेष स्नेह करतीं और अनेक प्रकार के उनसे भजन सुनतीं। एक तो ब्राह्मण, तिस पर मिष्ठभाषी और मधुर गीत गाने में निपुण, इस लिये मुहल्ले की प्रत्येक हिन्दू स्त्री सब समादृत होतीं।

ईसवी सन् १८५३ में कलकत्ते के जानबाज़ार में रहने वाली विख्यात नामा श्रीमती रासमणि दासी ने कलकत्ते से उत्तर की ओर अनुमान तीन कोस दूर गङ्गा जी के पूर्वतट पर, दक्षिणेश्वर नामक मनोहर स्थान पर बहुत सा रुपया लगा कर, काली देवी और राधामाधव का अतिसुन्दर मन्दिर बनवाया था और शूद्रवंशोद्भवा होने के कारण उसने अपने गुरु के नाम से इनकी प्रतिष्ठा करायी, क्योंकि वह जानती थी कि, यदि उसके नाम से

प्रतिष्ठा होगी तो ब्राह्मण आदि उच्च जाति के लोग मन्दिर में नहीं आवेंगे। इस लिये उसने ब्राह्मण द्वारा मूर्तियों को प्रतिष्ठित किया था। इस अवसर पर परमहंस जी के बड़े भ्राता रामकुमार जी को पूजापाठ में सुदक्ष और सुपण्डित समझ कर उसने अपने मन्दिर का पुजेरी बना कर, दक्षिणेश्वर में भेजा और भाई के साथ परमहंस जी भी वहाँ जा पहुँचे। यही स्थान अन्त में उनकी सिद्धियों का पीठ और आध्यात्मिक उन्नति का मूल माना गया।

शास्त्र के वाक्यो का आदर रामकृष्ण के पवित्र हृदय में इसी समय से होने लगा था। उनके बड़े भाई के साथ उनके दूसरे भाई का इस बात पर शास्त्रार्थ होता था कि, शूद्र प्रतिष्ठित मन्दिर का किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को अर्चक होना चाहिये कि, नहीं। छोटा भाई उनकी अर्चकता के विरुद्ध प्रमाण सुनाता और बड़ा भाई उन वाक्यों की व्यवस्था कर अर्चकता का मण्डन करता था। धर्मभीरु रामकृष्ण के चित्त पर शास्त्र के इन वाक्यो का ऐसा प्रभाव पड़ा कि, प्रतिष्ठा वाले दिन जब कि, दस पन्द्रह सहस्र मनुष्यो का वहाँ धूमधाम से भोजन हुआ था; उन्होंने कुछ न खाया। दिन भर उपवास कर, रात को एक दूकान से एक पैसे का चवैना मोल ले कर, चबाया और फिर इस प्रतिज्ञा पर कि, वे अपना भोजन गङ्गातट पर अलग बना कर खाया करें, भाई के साथ रहने लगे। प्रथम भाई की उपस्थिति में वे सहकारी अर्चक रहे, अनन्तर राधामाधव की पूजा करने लगे। तदनन्तर रामकुमार जी के लोकवास होने पर वे काली जी की पूजा में निमग्न हुए।

पन्द्रह या सोलह वर्ष की अवस्था में जब रामकृष्ण का उपनयन संस्कार हुआ, तब से उनके अभिभावक परमहंस जी के

विचार का निर्द्धारण करने लगे। विवाह की बात सुन कर, बालक रामकृष्ण आनन्दित हुए थे। विवाह क्या वस्तु है, उसका प्रयोजन क्या है; इन बातो को वे नहीं जानते थे। पन्द्रह सोलह वर्ष का ईश्वरानुरागी बालक इन सब बातों को क्या जाने!

रामकृष्ण देव की जन्मभूमि के समीप जयरामवाटी नामक गाँव में रामचन्द्र मुखोपाध्याय नाम के एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी आठ वर्ष की लड़की श्रीमती शारदामणि से रामकृष्ण का विवाह हुआ। विवाह के पीछे जब कभी ससुराल की चर्चा चलती; तब वहाँ जाने को उनका जी चाहा करता, किन्तु यह चाह भोगलिप्सु व्यक्ति की सी न थी, एक शुद्ध स्वभाव बालक की थी।

रामकृष्ण देव का स्वभाव पहिले ही से ऐसा था कि, लिखना पढ़ना छोड़ अन्य जिस काम को करते, खूब मन लगा कर करते थे। काली देवी जी की पूजा करते करते उनके मन में दृढ़ भावना हो गयी कि, उनकी और जगत् की जननी एकमात्र काली देवी ही है। उनके मन में बार बार यही विचार उठने लगा कि, काली जी की मूर्त्ति सजीव है। वह चलती है, बोलती है और समर्पित वस्तुओ को ग्रहण करती है। वे प्रहर प्रहर तक भक्तिभाव से स्तोत्रपाठ करने और गद्गद कण्ठ से माँ माँ कह कर, पुकारने लगे। इस समय से उनके भाव की तरङ्गें बढ़ने लगीं और वे आनन्द-सागर में निमग्न होने लगे। उनकी प्रार्थना का तात्पर्य यह था कि "माँ! मुझ पर दया कर तूने अनेक भक्तो पर दया की है, तो क्या मुझ पर दया न करेगी। दयामयि! मैं शास्त्र नहीं जानता, मैं पण्डित नहीं हूँ, कुछ नहीं जानता और जानने की इच्छा भी नहीं करता, कहो तू मुझ पर दया करेगी कि नहीं? माँ। मेरे प्राण जाते हैं, मुझे दर्शन दे। मैं

अष्टसिद्धि की इच्छा नहीं करता। माँ! मैं लोगों से मान भी नहीं चाहता। माँ! मैं केवल तेरा दर्शन चाहता हूँ।" आरती पूरी कर, वे अकेले देवी जी के सामने बैठ कर, रोया करते थे। रोते रोते कभी कभी वे खिलखिला कर हँसने भी लगते थे। जिस अकपट विश्वास और अनुराग से ईश्वर-दर्शन हुआ करता है, वह इस समय रामकृष्ण देव में दिखलायी पड़ा। वे रात दिन माता काली के दर्शनों की चिन्ता करने लगे। अन्त में उनके प्राण व्याकुल हो गये। जब प्राण रोने लगे, जब ब्रह्म-मयी के दर्शन के लिये प्राण निकलने को तय्यार हुए, जब मन जगत् की वस्तुओं का विसर्जन कर चुका, तब अन्तर्यामिनी काली देवी भी सब वृत्तान्त जान गयीं।

एक दिन रामकृष्ण देवी के सामने बैठ कर—"माँ! मुझे दर्शन दे" कह कर रो रहे थे। ऐसे समय में वे अचानक उन्मत्त की तरह हो गये। उनके मुख और नेत्रों पर लाली छा गयी। दृष्टि वाह्यजगत् से अन्तर्हित हुई, नेत्रों से अश्रुधारा वह चली। दूसरे लोगों ने आन कर, उन्हें उठाया। वे दूसरे दिन भी बेसुध पड़े रहे। मुख में आहार देने से कुछ खा पी लिया। शौच फिरने और लघुशङ्का करने का ध्यान तक न रहा। केवल "माँ! माँ!!" कह कर रोने लगे। दूध पीने वाला बच्चा जैसे माता के लिये चिल्लाया करता है, वैसे ही यह भी दयामयी जगज्जननी को पुकारने लगे और दर्शन के क्षणिक आनन्द के पश्चात् विरहावस्था से व्यथित हुए। इस प्रकार उन्मत्तावस्था में वे छः मास रहे। तदनन्तर क्रम से उनकी दशा में कुछ कुछ समता आयी। तब उनका साधनकार्य्य आरम्भ हुआ। वे सर्वदा कहा करते कि—"फूल के बिना फल नहीं होता, किन्तु कुमड़े (पेठे) आदि के पहिले फल लगता है, पीछे कली खिलती

है।" रामकृष्ण देव को प्रथम ईश्वर-दर्शन और पीछे साधन कार्य्य आरम्भ हुआ।

अभिमान या अहङ्कार ईश्वर के मार्ग में बड़ा कण्टक है। इस लिये रामकृष्ण ने इसे दूर करने के लिये प्रथम यत्न किया। वे काली जी से कहने लगे "माँ! मेरा अहङ्कार नष्ट कर दे। मैं दीन, हीन से हीन हूँ। यही मेरी समझ रहे, क्या शूद्र, क्या चाण्डाल, क्या पशु पक्षि, सब मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यह ज्ञान मुझे सर्वदा रहे।" इस प्रकार अपने अहङ्कार को निवृत्त करने के लिये केवल प्रार्थना ही कर के, वे नहीं रह जाते थे, वरन उन बातो को भी करते थे, जिनके करने में एक ब्राह्मण को तो क्या, शूद्र को भी सङ्कोच उपस्थित हो। देखने वाले उनका तिरस्कार करते, पर इससे उनके भाव में कुछ अन्तर नहीं होता था। कोई कहता यह विक्षिप्त हो गया, कोई समझता इस पर भूत सवार है और कोई कहने लगता कि, यह संस्कार भ्रष्ट है। उनके प्रेमप्रवाह के निकट, बन्धुओं का उपदेश, शत्रुओ का उपहास, मन्दिर वालों की ताडना टिकने नहीं पाती थी। वह अपने कार्य्य को जब तक पूरा नहीं कर लेते थे, तब तक उसीमें दत्तचित्त रहते थे।

अनन्तर उन्होने कामिनी काञ्चन में मन लगाया। सोचा कि, ईश्वर की शक्ति को माया कहते हैं। इस माया ही से जगत् की सृष्टि हुई है। माता महामाया ही का स्वरूप सब स्त्रियाँ हैं। इसलिये जगत् की समस्त स्त्रियाँ हमारी माता हैं। उस दिन से स्त्रियों में उनका भाव हो गया। फिर विचारा कि, रुपये पैसे से अहङ्कार बढ़ने के सिवाय और क्या परमार्थ सिद्धि होसकती है। इन सब की वसुन्धरा पृथिवी से उत्पत्ति होती है एवं अन्त में उसीमें इनको मिल जाना है और इनका मूल्य स्थिर नहीं है, सब कल्पित है।

फिर इनमें और मिट्टी में कितना अन्तर है, कुछ नहीं। द्रव्य सब अनर्थों का मूल है। ऐसा विचार कर, उन्होंने अपने रुपये गङ्गा जी में फेंक दिये और फिर कभी उनका स्पर्श भी न किया।

साधारणव्रत नियमादिक करके परमहंस जी ने योग की ओर मन लगाया। दक्षिणेश्वर में मन्दिर के समीप ही एक बहुत बड़ा वटवृक्ष है। उसके नीचे पुष्पित वृक्ष और लताओं की एक सुन्दर कुञ्ज बनी हुई थी। उसमें गङ्गा जी की रेती बिछा कर, रामकृष्ण आराधन और साधन करने लगे।

तोतापुरी नाम के एक संन्यासी थे। उनसे संन्यास ग्रहण कर, इन्होंने योग सीखने की ओर ध्यान दिया। जो विद्या तोतागिरि ने वर्षों में सीखी थी, उसे रामकृष्ण ने कुछ दिनों ही में सीख लिया। कुछ दिनों में योग-सिद्धि के पश्चात् रामकृष्ण का शरीर मोटा हो गया और लोग इन्हें परमहंस जी कहने लगे। जब से उन्मत्तावस्था हुई थी, तब से पूजा का कार्य करने के लिये परमहंस जी के एक आत्मीय हास्यानन्द मुखोपाध्याय नियुक्त हो गये थे; किन्तु परमहंस जी की जब कभी इच्छा होती, शुद्धा शुद्धि के विचार बिना ही वे भी पूजा करने पाते, किन्तु उनकी पूजा पद्धति सङ्गत पूजा न थी। कभी वे चॅवर करते ही करते भावमग्न हो जाते और कभी घंटों पुष्प ही चढ़ाते रहते। स्तोत्रपाठ करने लगते तो उनकी भी सहज में इतिश्री न होती। कभी कभी उनका भाव अघोरियों जैसा देखने में आता। मल-मूत्र का त्याग करने पर भी शरीर की शुद्धि का विचार नहीं होता। इसी समय से इनको भगवती का प्रत्यक्ष दर्शन बार बार होने लगा और ये अपनी शङ्काओं का समाधान स्वयं काली जी से करने लगे। यद्यपि पूर्वापेक्षा इनकी दशा अच्छी थी, तथापि बीच में ये भावमग्न हो जाया करते थे और घंटों बेसुध ही पड़े

रहते थे। वैद्य वायुरोग समझ कर तन्नाशक औषधि के उपयोग की व्यवस्था कराते और कोई इस रोग की निवृत्ति का उपाय स्त्रीसहवास को समझ, उसका ढंग जमाते, किन्तु रामकृष्ण प्रथम ही मान चुके थे—"स्त्रियः समस्तास्तव देवि भेदाः।"

थोड़े दिनों के पीछे दक्षिणेश्वर में एक विदुषी ब्राह्मणी आयी। उसके मस्तक पर भगवाँ वस्त्र और सुन्दर मुख पर तेज देखने से प्रतीत होता था कि, साक्षात् जगदम्बा धराधाम पर अवतीर्ण हुई हैं। रामकृष्ण ने उसे देखते ही "दयामयी माँ!" कह कर पुकारा और वह भी 'प्रियवत्स' कह कर इनके निकट आयी। मातृदर्शन का सुख परमहंस जी को और पुत्रलाभ का सुख ब्राह्मणी को प्राप्त हुआ। कहते हैं यह ब्राह्मणी शास्त्रार्थ करने में निपुण थी और तान्त्रिक अनुष्ठान की विधि खूब जानती थी। बहुत दिनो तक यह परमहंस जी के पास रही और कई प्रकार के तान्त्रिक अनुष्ठान इसने उनको सिखलाये।

मन्दिर की मालकिन रासमणि के जामाता बाबू मथुरानाथ ही एक प्रकार से उनके कार्य्यों के सम्पादक थे। इस लिये बहुधा मन्दिर का प्रबन्ध वही किया करते थे। मथुरानाथ से पहिले पहिल उक्त विदुषी ब्राह्मणी ने कहा कि परमहंस जी साधारण पुरुष नहीं है, पर उनको उस समय विश्वास नहीं हुआ। वह लोगों के कहने के अनुसार उनको रोगी समझ कर, कलकत्ते के एक प्रसिद्ध वैद्य के पास चिकित्सा कराने को ले गये। वहाँ पर उन्होने अनुभवी वृद्धवैद्य से सुना कि "यह रोगी नहीं कोई योगी है।" तब से बाबू साहब की कुछ कुछ इधर भक्ति होने लगी। परन्तु इधर परमहंस जी के कार्य्यों से मन्दिर में हलचल

मच गयी। कारण कि परमहंस जी, जो पुष्प नैवेद्य आदि काली जी के समर्पण के निमित्त आते, उनको प्रतिमा पर न चढ़ा, भावावेश में अपने ऊपर चढ़ा लेते और नैवेद्य को खा लेते। कभी काली जी की पूजन सामग्री से बिल्ली को पूजने लगते। यह देख मन्दिर के प्रबन्धकर्त्ता ने इनका मन्दिर में जाना बंद कर दिया, पर यह लड़ झगड़ कर, भीतर गये बिना न मानते थे। इस पर मथुरानाथ बाबू ने उनको रोकने के लिये कड़ा पहरा मन्दिर के द्वार पर बिठा दिया। पर एक दिन मथुरानाथ ने परमहंस जी के अलौकिक स्वरूप को देख कर, उनको शङ्कर समझा और उस दिन से वे पिता जी कह कर, उन्हें पुकारने लगे। रासमणि भी इनकी कई अलौकिक बातों को देख कर, समझ गयी कि, यह कोई बड़े महापुरुष हैं और उनमें भक्तिभाव रखने लगी। उनके लिये मन्दिर में आने जाने की रोक टोक न रही। इधर प्रगाढ़ भक्तिभाव के साथ परमहंस जी की मनोवृत्तियाँ शान्त होने लगीं और समदर्शिता बढ़ने लगी। इस प्रकार क्रम से वह साधन दशा से आरूढ़ दशा में पहुँचे।

ईसवी सन् १८६६ में ब्रह्मसमाज के प्रचारक बाबू केशवचन्द्र सेन जी दक्षिणेश्वर के समीप एक वाटिका में जा कर रहे। परमहंस जी की बड़ाई सुन वे एक दिन उनके पास गये और उनका ईश्वरानुराग, अत्युच्च ज्ञान और दृढ़ धारणा, देख कर चमत्कृत हुए और इनके उपदेश से अपने को धन्य माना। तब से बाबू साहब नित्य परमहंस जी के पास जाते और कभी कभी इन्हें अपने बङ्गले पर ले जाते थे। इसका फल यह हुआ कि, ब्रह्मसमाज के नेता बाबू केशवचन्द्र पहिले जैसे केशवचन्द्र न रहे, उनके विचार बदल गये और वे निराकार की शुष्क वक्तृता देने के बदले साकार ब्रह्म के अनुरागी हो गये।

सब से प्रथम बाबू केशवचन्द्र सेन ने परमहंस जी की योग्यता की प्रसिद्धि की। उनकी उपदेश-प्रणाली की प्रशंसा और कुछ उपदेशों का निदर्शन उन्होंने संवादपत्रों में छपवाया। उसे पढ़ कलकत्ते के सहस्रो शिक्षित नरनारियों की परमहंस जी के आश्रम में भीड़ लगने लगी। इनके सरल और प्रभावशाली उपदेश की बङ्ग देश में धूम पड़ गयी। कितने ही नास्तिक उपदेश सुन आस्तिक होगये और कितने ही कठोरहृदय नम्र हो गये। शिक्षित पुरुषों के हृदय में जो ब्राह्म समाज की शिक्षा ने विषवृक्ष बोया था, वह परमहंस जी के उपदेशो से निर्मूल हो गया।

ईसवी सन् १८८२ में उनके गले में पीड़ा हुई और होते होते वहाँ घाव पड़ गया। कलकत्ते के प्रसिद्ध डाक्टर महेन्द्र-लाल सरकार जैसे चिकित्सको की चिकित्सा से भी उपकार न हुआ। डाक्टर साहब ने कहा कि, आप बोलना बंद कर दें तो रोग आराम हो जाय, पर यह परमहंस जी से कब हो सकता था। वे काली जी की स्तुति और भक्तों को उपदेश निरन्तर देते रहे। समाधिस्थ होने के सिवाय वे चुप न होते और कहते थे कि, इस क्षणभङ्गुर शरीर से किसी का जितना उपकार हो जाय उतना ही अच्छा है।

ता० १३ अगस्त सन् १८८३ ई० को रात को दस बजे तक वे बोलते थे, अनन्तर उन्होने ऐसी समाधि लगाई कि, भक्तो के बार बार रोने से भी नहीं उतरी। कई घंटो की परीक्षा के पश्चात् शिष्यो ने समझा कि, परमहंस देव ब्रह्मपद को प्राप्त हुए।

परमहंस जी का चरित्र बड़ा पवित्र था। ऐसा योग्य सिद्ध-पुरुष इस देश में बहुत दिनों से नहीं हुआ। विदेशीय पण्डित मैक्समूलर ने भी परमहंस जी के विषय में एक पुस्तक अङ्गरेज़ी

में लिखी है। सत्य तो यह है कि, विना पढ़े किस प्रकार भक्ति भाव से पुरुष ऊँचे स्थान पर पहुँच सकता है, इस विषय में रामकृष्ण देव का निर्मल चरित्र उदाहरण है। बाबू मथुरानाथ पचीस सहस्र वार्षिक आय की सम्पत्ति इनके नाम कराते थे, पर इन्होंने स्वीकार नहीं की। परमहंस जी एक सादा वस्त्र शरीर पर रखते थे, वहुधा नग्न रहते थे। उनके उपदेश का ऐसा अच्छा ढंग था कि, वे चलते, फिरते, उठते, बैठते, जो कुछ अपनी अमृतमय रसीली वाणी से कहते थे, सो सब के मन में समा जाता था।

गुरु नानक

सन् १५२६ में गुरु नानक का जन्म कार्त्तिक सुदी पूर्णिमा के दिन कालूचन्द खत्री के घर में तिलवंडी नामक गाँव में हुआ था। इनकी जन्म-कुण्डली को देख ज्योतिर्विदों ने कहा था कि, यह बालक बड़ा यशस्वी, धर्म्मनिष्ठ तथा प्रतापी होगा। इसकी कीर्त्ति संसार में प्रलय तक रहेगी। नवजात बालक के माता पिता को भाग्यशाली पुत्र के जन्म-ग्रहण करने पर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।

नानक का, किसी किसी जीवनी-लेखक के मतानुसार, नाम "नानक", इस लिये पड़ा कि, उनका जन्म ननिहाल में नाना के घर में हुआ था। पर कोई कोई इस नामकरण का कारण यह भी बतलाते हैं कि, उनकी बड़ी बहिन नानकी थी, अतः उनका नाम नानक रखा गया। जो हो, इस बात के सत्यासत्य की परीक्षा के लिये अब कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

कहा जाता है, नानक एक ही वर्ष की अवस्था में खड़े होने लगे थे और उनके दाँत निकल आये थे। जब यह बैठते तो टांगो पर टांगें रख कर बैठते थे और गुनगुनाया करते थे। पाँच वर्ष की अवस्था होने पर, ये अपने संगी साथियों को धर्म्मोपदेश करने लगे थे और घर में जो कुछ पैसा रुपया मिलता उसे स्वयं व्यय न कर, दीन दुखियों को दे दिया करते थे।

सन् १५३३ में नानक जब सात वर्ष के हुए, तब वे लिखना पढ़ना सीखने के लिये एक पाठशाला में बिठलाये गये। पहिले

दिन गुरु ने इन्हें जब पढ़ाया और याद कराना चाहा, तब ज्ञानी नानक ने उनसे कहा—'जो इस हिसाब किताब के चक्कर में पड़ता है, वह इस भवसागर से नहीं पार होता। मुझे तो आप भगवत्-स्तुति पढ़ाइये। मैं तो यही कहूँगा कि, आप भी इस जगड्वाल को छोड़, उस विद्या को पढ़िये जो परलोक में सहायक हो।"

अनन्तर नानक संस्कृत पढ़ने के लिये सं० १५३५ में, पं० व्रजनाथ जी के पास भेजे गये। पण्डित जी ने ओंकार का अकार लिख कर, इन्हें पढ़ाना चाहा। ज्ञानी बालक ने उसका अर्थ जानना चाहा। इस पर पण्डित जी ने उपेक्षा के साथ कहा—"बालकों को आरम्भ में इसका अर्थ नहीं बतलाया जाता। यदि तुम जानते हो तो बतलाओ।" पण्डित जी का उत्तर सुन नानक ने ऐसा सुन्दर और गूढ़ अर्थ कहना आरम्भ किया, जिसे सुन पण्डित व्रजनाथ जी को आश्चर्य हुआ।

नानक पन्द्रह वर्ष के हो गये थे। एक दिन घर में नमक नहीं रहा था। नमक लाने के लिये पिता ने नानक को आज्ञा दी। साथ ही यह भी कह दिया कि, "देख भाल कर उत्तम वस्तु लाना।" नानक जी चल दिये। आगे बढ़ कर देखा कि, अभ्यागत भिक्षुकों की एक मण्डली पड़ी है। आपने मन में सोचा इससे बढ़ कर उत्तम वस्तु कहाँ मिलेगी। अतः पास का सारा द्रव्य साधु-मण्डली के भोजनोपचार में व्यय कर डाला।

पुत्र को रीते हाथ आते देख सारा हाल सुन, पिता ने नानक को अनेकों कटु वाक्य कहे, किन्तु नानक ने उन पर ध्यान भी न दिया।

कहा जाता है कि, नानक जब भावान्तरित होते, तब उन्हें निर्जन स्थान अच्छा लगता और जनसमुदाय उदासीन। वे बहुधा

अकेले वन की ओर चले जाते थे और घंटों वहाँ एकान्त में भगवद्भक्ति में निमग्न रहते। उनकी घंटों की अनुपस्थिति पिता के विराग का कारण होती और उनको पुत्र के खोजने में कष्ट भी उठाना पड़ता। जब वे अपने पुत्र के गृहस्थोचित स्वभाव के विरुद्ध स्वभाव से तंग हुए; तब उन्होंने नानक को उनके बहनोई जयराम के पास सुलतानपुर भेज दिया। जयराम ने नानक को नवाब दौलत अलीखाँ के मोदीख़ाने में नौकर करा दिया। अनन्तर सं० १५४५ में नानक का विवाह सुलक्ष्मी नाम की एक कन्या के साथ करवाया गया। विवाह होने के छः वर्ष उपरान्त नानक की स्त्री के गर्भ से बालक हुआ; जिसका नाम श्रीचन्द्र रखा गया। श्रीचन्द्र ही उदासी पन्थ के प्रवर्त्तक हैं। कुछ दिनो बाद सुलक्ष्मी की कोख से एक और पुत्र जन्मा। यह सुसंवाद सुन, नानक के पिता प्रसन्न हुए और उन्होंने विचारा कि, 'नानक रास्ते पर आ गया, पर नानक सांसारिक कर्म करते तो थे, पर उनमें लिप्त नहीं होते थे। सब कर्म करते हुए, वे ईश्वराराधन में ज्यों के त्यों संलग्न थे और धर्मोपदेश दिया करते थे।

नानक को लड़कपन से ईश्वर में दृढ़ निष्ठा थी और वे सात पाँच को ईश्वर न मान एक ही ईश्वर मानते थे। एक बेर सुलतानपुर के क़ाज़ियों ने वहाँ के नवाब दौलतअलीख़ाँ से नानक की चुग़ली खायी और प्रस्ताव किया कि नानक को यदि किसी मत से द्वेष नहीं है और वह सब धर्मों को समान समझता है; तो हमारे साथ मसजिद में नमाज़ पढ़े। नानक इस पर राज़ी हो गये और उन क़ाज़ियों को लज्जित होना पड़ा।

होते करते संवत् १५५६ उपस्थित हुआ। यही नानक के गृहस्थाश्रम त्यागने और सम्पूर्ण रीत्या साधु-आश्रम ग्रहण करने का

चिरस्मरणीय वत्सर है। उन्होंने अश्रुमुखी स्वधर्मपत्नी और घर वालों के विलाप पर ध्यान न दे, साधुवेष धारण किया और मरदाना नामक एक भृत्य को साथ ले, वे भ्रमण करने के लिये घर से निकले। पंजाब के अनेक नगरों में घूमते फिरते, वे काशी, प्रयाग होते हुए बङ्गाल में गये। वहाँ से अनेक नगरों में घूम फिर कर, वे कामरूपदेश में पहुँचे। इसी प्रकार वहाँ से लौटते समय अनेक नगरों में होते और उपदेश देते हुए, वे सुल-तानपुर लौट आये।

संवत् १५६७ में उन्होंने बाला एवं मरदाना के साथ दक्षिण प्रान्त की यात्रा की। गुजरात के अनेक नगरों में होते हुए वे भारत की दक्षिणी सीमा अतिक्रम कर, मक्का में पहुँचे। पैदल चलने के कारण वे वहाँ की प्रधान मसजिद के पास उस ओर पैर कर के, लेट रहे। इतने में एक मुसलमान आया और उसने इन्हें दरगाह की ओर पैर कर, पड़े देख, बहुत बुरा माना और यद्वा तद्वा बातें कहीं। जब तक वह बकता रहा, तब तक नानक चुपचाप रहे। अन्त में जब वह चुप हुआ; तब वे बोले—"मैं जिस ओर पैर करता हूँ उस ओर ही ईश्वर की दरगाह देखता हूँ। क्योंकि ईश्वर तो सर्वव्यापी है।" लोग यह भी कहते हैं कि, नानक जिस ओर पैर करते उधर ही दरगाह घूम जाती थी। जो हो, योगी और भगवद्भक्तो में बड़ी सामर्थ्य होती है। यदि ऐसा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। अनन्तर काज़ी ने नानक से पूँछा आप हिन्दू हैं कि मुसलमान? इस प्रश्न के उत्तर में नानक ने नीचे लिखा दोहा पढ़ा:—

हिन्दू कहीं तो मारिये, मुसलमान भी नाहिं।
पाँचतत्व का पूतला, नानक मेरा नाम।

इस पर वह चुप रह गया। नानक वहाँ से चल कर, मदीने में पहुँचे और वहाँ वाले भी इनके उपदेश को सुन चकित हुए। अनन्तर नानक ईरान, फारस रूम आदि देशों के अधिवासियो को अपने उपदेशों से परितृप्त करते हुए बग़दाद पहुँचे। बग़दाद का ख़लीफ़ा, नानक की गुणावली पहले ही से सुन चुका था। अतः उसने इनका बडी धूमधाम के साथ आगतस्वागत किया। नानक का उपदेश सुनने पर तो उसके आनन्द की सीमा न रही और वह अपने को कृतकृत्य मानने लगा। चलते समय ख़लीफ़ा ने उनको एक बहुमूल्य लंबा कुर्त्ता भेंट किया, जिस पर क़ुरान की आयतें बिनावट में लिखी गयी थीं। यह कुर्त्ता पंजाब के काबलासिंह के घर में अभी तक सुरक्षित है। नानक पन्थ के शिष्य प्रशिष्य प्रतिवर्ष इसके दर्शन कर पूजन करते हैं। बग़दाद में नानक का एक स्मृतिचिन्ह अभी तक विद्यमान है और वहाँ इनकी मानता "नानक पीर" के नाम से अभी तक होती है।

बग़दाद से नानक रूम तथा ईरान में गये और वहाँ से वे बुख़ारा पहुँचे। यहीं पर उनका साथी मरदाना मरा। यह नानक का बडा प्रिय साथी था। नानक जो भजन बनाते, उन्हें यह वीणा पर गाया करता था। संवत् १५७६ वि० में नानक की सुदूर देशो की यात्रा पूरी हुई और अपने घर कर्त्तारपुर पहुँचे, यह कर्त्तारपुर ऐरावती नदी के तट पर है। नानक ने अपना शेष जीवन यहीं बिताया।

नानक कर्त्तारपुर में जिस घर में रहते थे, उस घर के पास उन्होंने एक धर्मशाला या अतिथिशाला भी निर्माण करवायी थी। कर्त्तारपुर में यह अभी तक खड़ी है और वहाँ वाले इसे "डेरा बाबा नानक" के नाम से प्रख्यात करते हैं।

नानक का उपदेश धर्ममय होता था। उनके समय में सिक्ख जाति के आचार विचार में कुछ भी अदल बदल नहीं हुआ, किन्तु उनके शिष्यों का उन पर पूरा विश्वास था। नानक एक निरभिमान और सच्चे भगवद्भक्त थे। उनके रचे पदों में भगवान् की प्रशंसा और अपनी अकिञ्चनता टपकी पड़ती है। उनके एक भजन का आरम्भ यों है :—

"तु है निरङ्कार, नानक वन्दा तेरा।"

एक दिन लहना नामक एक खत्री एक देवी के दर्शनार्थ जा रहा था। मार्ग में उसकी नानक से भेंट हुई। लहना ने नानक के उपदेशमय वाक्य सुने। उसे उन वाक्यों को सुन नानक में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हुई कि उसने देवी के दर्शनों के लिये जाने का विचार छोड़ दिया और वह नानक के पास रहने लगा। नानक ने लहना को अपने पन्थ में दीक्षित कर, उसे अपना शिष्य बनाया। उन्होंने उसका नाम अङ्गद गुरु रखा और इसीको गद्दी पर बिठाया। गुरु नानक ने इसकी कई बार परीक्षा ली थी और यह प्रत्येक परीक्षा में गुरु नानक के पुत्रो से बढ़ कर सफल हुआ था।

सवत् १५९० वि० की कार्त्तिक वदी १३शी को, नानक की जननी चल बसी, जननी को मरे बोस ही दिन हुए थे कि, नानक के पिता भी परलोकवासी हुए। माता पिता के लोकान्तरित होने के छः वर्ष बाद, नानक गुरु ने ६९ वर्ष १० मास की अवस्था में, संवत् १५९६ वि० की आश्विन वदी १०मी को शरीर त्यागा। शरीरत्याग के समय तक उनकी वाणी से धर्मोपदेश निकलता रहा।

नानक हिन्दू मुसलमानों में भेद नहीं मानते थे । यही कारण था कि, हिन्दू मुसलमान दोनों जातियाँ उनको पूज्य समझ मानती थीं। जब गुरु नानक ने शरीर त्याग दिया ; तब उनके शिष्य एव मानने वाले हिन्दू मुसलमानों में इस बात का झगड़ा उत्पन्न हुआ कि, नानक के शव का अन्तिम संस्कार क्यों कर हो । हिन्दू तो उनके शव को भस्म करना चाहते और मुसलमान उसे ज़मीन में दफ़नाया चाहते थे । जब झगड़ा बढ़ने लगा, तब उनमें से एक चतुर मनुष्य ने वह चादर उजारी जो उनके शरीर पर पड़ी थी; किन्तु चादर उठाने पर, उनका शव न दिखलायी पड़ा। तब उन लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, और उन्होंने उस चादर के दो टुकडे कर, उसे आपस में बाँट लिया । एक टुकड़ा हिन्दुओं को, दूसरा मुसलमानों को मिला । हिन्दुओं ने उस टुकडे को जलाया और मुसलमानो ने उसे दफ़नाया ।

कर्त्तारपुर में अब तक मुसलमानों द्वारा निर्मित नानक का समाधि-मन्दिर वर्त्तमान है । प्रतिवर्ष वहाँ मेला होता है। गुरु नानक ने अपने शिष्यो को जो उपदेश दिये थे, शिष्यों ने उनको संग्रह कर, उसका "आदि ग्रन्थ" नाम रख कर, तैयार किया। उसे सिक्ख "ग्रन्थ साहब" कहते हैं और "वेद भगवान्" की तरह उसे मानते हैं।

"आदि ग्रन्थ" में नाना प्रकार के रागों में उपदेशपूर्ण गीत हैं। "ग्रन्थ साहब" में गुरु नानक के अतिरिक्त उनके शिष्यों की रचनाएँ भी संग्रहीत की गयी हैं।

नानक पंजाबी थे। वे जिसे अपना शिष्य करते, उसे वे सिख कहते थे । सिख शब्द "शिष्य" का अपभ्रंश है। इसीसे उनके पन्थ के लोग सिक्ख के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस पन्थ में दस गुरु हो गये हैं। उनके नाम यथाक्रम नीचे दिये जाते हैं।

१ गुरु नानक	६ गुरु हरगोविन्द ।
२ गुरु अङ्गद	७ गुरु हरराय ।
३ गुरु अमरदास	८ गुरु हरकृष्ण ।
४ गुरु रामदास	९ गुरु तेगबहादुर ।
५ गुरु अर्जुन	१० गुरु गोविन्द ।

गुरु रामदास जी ने अमृतसर "गुरु दरबार" की प्रतिष्ठा करायी थी। गुरु गोविन्दसिंह बड़े वीर थे, इनके बाद और कोई उपयुक्त व्यक्ति न मिला जो नानक की गद्दी को शोभित करता।

आदिग्रन्थ या ग्रन्थ साहब के आदि भाग को "जपजी" कहते हैं। निष्ठावान् ब्राह्मण जैसे गायत्री का जप किये बिना जल ग्रहण नहीं करते ; वैसे ही सिक्ख लोग जपजी का जब तक कुछ अंश पाठ न कर लें; तब तक और सांसारिक काम नहीं करते। जपजी का सारा भाग आध्यात्मिक भावों से भरा है। उदाहरण स्वरूप हम उसके एक पद का अर्थ नीचे देते हैं।

"परमात्मा-सत्यस्वरूप है। उसके नाम सत्य एवं उसके भाव अनन्त हैं। उससे जो प्रार्थना की जाती है, प्रार्थी को उसकी प्रार्थित वस्तु प्राप्त होती है।" ईश्वर की प्राप्ति क्यों कर हो ? इस प्रश्न के उत्तर में नानक ने कहा है—"परमात्मा की महिमा जिसके मुख से अच्छी लगे, उसके मुख से सुनने से ; नित्य प्रातःकाल परमात्मा का सत्य नाम लेने एव उसकी महिमा पर विचार करने से ; जीव को कर्म द्वारा पाञ्चभौतिक शरीर मिलता है और ज्ञानरूप वस्तु को लक्ष्य करने से मोक्ष होता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर, द्रष्टा, सत्य और दृश्य भी सत्य सत्य प्रतीत होने लगते हैं।"

नानक के बनाये "सोदर रास" सायंकाल को और "कीर्त्ति सोहिला" सोने के पूर्व पढ़ने योग्य हैं। "योग की बानी" में भगवान् की प्राप्ति के उपाय बतलाये गये हैं और अनेक उपदेश हैं। "प्राणसाङ्गति" ग्रन्थ में अनेक कार्यों की विधि और निषेधों का उल्लेख है।

साधु तुकाराम

बम्बई प्रदेश के अन्तर्गत पूना नगर से ६ कोस उत्तर पश्चिम देहु नामक एक ग्राम है। सन् १६०८ ई० में साधु तुकाराम का जन्म इसी ग्राम में हुआ था। तुकाराम के पिता का नाम वहेला जी था और यह मोरे उपाधि धारी शूद्र थे। वाणिज्य द्वारा वे जीविका निर्वाह करते थे। तुकाराम की माता का नाम कनक वाई था। कनक वाई पतिव्रता स्त्री थी। उमर अधिक हो जाने पर जब कनक वाई के कोई सन्तान न हुई, तव पति-पत्नी दोनों सदा उदास रहने लगे। वे दोनो पुत्र-लाभ की कामना से अपने कुल देवता की आराधना किया करते थे। ईश्वर के अनुग्रह से कनक वाई गर्भवती हुई और क्रमशः उसके तीन पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। ज्येष्ठ पुत्र का नाम शान्त जी, मध्यम पुत्र का नाम तुकाराम और कनिष्ठ का कन्हैया रखा गया। वहेला जी का व्यवसाय साधारण रीत्या भली भाँति चलता था। जो कुछ आम-दनी होती थी ; उसका कुछ अंश तो वे सञ्चित करते और कुछ अश से घर का कामधंधा चलाते थे। शेष भाग वे व्यापार एवं धर्मार्थ कामों में व्यय करते थे।

वृद्ध होने पर जब वहेला जी की विषय-लालसा कम हुई तव उन्होंने सारा कामकाज अपने ज्येष्ठ पुत्र शान्त जी को सौंपना चाहा, किन्तु शान्त जी सचमुच शान्त प्रकृति के थे, अतः उन्होने सांसारिक झंझटों में फँसना स्वीकार न किया। उस

समय तुकाराम की अवस्था केवल तेरह वर्ष की थी। बड़े भाई ने जब घर का भार उठाना अस्वीकार किया, तब तुकाराम ने उसे सहर्ष स्वीकार कर, पिता को सन्तुष्ट किया। थोड़ी अवस्था में गृहस्थी का भार उठा लेने पर भी, तुकाराम ने बड़ी योग्यता के साथ निर्वाह किया। व्यापार में उन्होंने यथेष्ट प्रतिष्ठा एवं विश्वास उपार्जन किया। अतएव थोड़े ही दिनों में तुकाराम ने बहुत सा धन पैदा कर लिया।

तुकाराम के दो विवाह हुए थे। एक स्त्री का नाम रुक्मी बाई और दूसरी का जीजा बाई था। संसार में माता, पिता, पत्नी, सुहृद्, आत्मीय, धन, मान, स्वास्थ्य आदि किसी बात का तुकाराम को अभाव न था। किन्तु ये सारी सुख-सामग्री बहुत दिनो तक न रह सकीं। तुकाराम के जिस संसार रूपी समुद्र में इतने दिनो तक सौभाग्य रूपी ज्वार आती थी, उसीमें अब भाटा का आरम्भ हुआ। सत्रह वर्ष की अवस्था में पदार्पण करते ही तुकाराम के पिता माता की मृत्यु हुई। तुकाराम के माता पिता के वियोग के आंसू अभी सूखने भी नहीं पाये थे कि, उनकी बड़ी भौजाई भी चल बसी। उस समय तुकाराम केवल अठारह वर्ष के थे। शैशवावस्था ही से तुकाराम ईश्वरभक्त थे और साधु-सेवा किया करते थे। माता पिता का स्नेह और घरेलू काम धंधे उनके इस अनुष्ठान में बाधा डालते थे, किन्तु माता पिता एवं भौजाई की मृत्यु के अनन्तर, तुकाराम के मन में सांसारिक विषयो के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ और उनका मन भगवद्भक्ति की ओर आकर्षित हुआ। जिस समय वे संसार रूपी समुद्र के भँवर में पड़ डूबना चाहते थे। उसी समय वे आत्म-रक्षा के लिये अपने कुलदेव विट्ठलनाथ जी के मन्दिर में जाकर भगवान् की सेवा कर, दिन व्यतीत करने लगे।

कुछ दिनों तक मन्दिर में रह कर, भगवद्-सेवा करते रहने पर, उनके मन में भक्तिरस से परिपूर्ण पुस्तकें पढ़ने की इच्छा उत्पन्न हुई। किन्तु व्यापार चलाने के लिये उन्होंने जो कुछ लिखा पढ़ा था, वह इन पुस्तकों को समझने के लिये पर्याप्त न था। अतः उन्हें फिर से विद्याभ्यास करना पड़ा। भक्तिरसात्मक पुस्तकें पढ़ने से जैसे जैसे उनका मन भगवदाराधन की ओर आकर्षित होता था, वैसे ही वैसे उनका मन सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त होता जाता था। स्वामी को व्यापार की ओर से उदासीन और बेसुध देख, तुकाराम के नौकर चाकर उनके मूलधन तक को हड़पने लगे। तुकाराम के व्यवसाय की उत्तरोत्तर अवनति देख अन्य व्यवसायियों ने उनके साथ देन लेन बंद कर दिया। अतः धीरे धीरे तुकाराम ऋण-जाल में फँसने लगे। यहाँ तक कि, उनको अन्न का कष्ट भी भोगना पड़ा। इतने में उनकी पहली स्त्री रुक्मी बाई का भी देहान्त हो गया। तुकाराम ने उसके गहने बेच कर कुछ रुपये इकट्ठे किये और उनसे, चाँवल, आलू, मसाले आदि मोल लिये और ग्राम से कुछ दूर हट कर, बाज़ार के पास वे एक छोटी सी दूकान खोल कर बैठ गये। ग्राहक लोग अत्यन्त अल्प मूल्य पर जो चाहते ले लेते, पर तुकाराम को इसकी तिल भर भी चिन्ता न होती और न वे कुछ बोलते थे। इस प्रकार थोड़े ही दिनो में तुकाराम की पूंजी चुक गयी। उनके मन में दया और धर्म भरा हुआ था, अतः उनके लिये व्यवसाय करना महा कठिन काम था। दीन दरिद्र एवं गुंडे लोग, जब कोई वस्तु माँगते, तब देनी अनदेनी वस्तु का विचार न कर, तुकाराम झट वह वस्तु माँगने वाले को दे दिया करते। महीपति[1] ने

---

[1] महीपति ईसा की अठारहवीं शताब्दी के मध्य में प्रादुर्भूत हुए थे। इनकी बनाई तीन पुस्तकें हैं जिनके नाम हैं, 'भक्तलीलामृत' 'भक्तविजय'

लिखा है कि, तुकाराम दूकान पर बैठ कर, निरन्तर हरिनाम कीर्त्तन किया करते थे। ग्राहक को देख तुकाराम विचारते कि, यदि इसे मूल्य से कम वस्तु दी तो पाप होगा, अतः ग्राहक जितनी वस्तु माँगे उतनी उसे देनी चाहिये।

जीजा बाई स्वामी को यह दशा देख चिन्तित हुई। उसने एक दिन तुकाराम के पास बैठ कर कहा—"स्वामिन्! तुमने विठ्ठलनाथ जी के चरणों में अपना मन अर्पण किया है, इससे विशेष क्षति नहीं, किन्तु तुम ठग गुंडो पर दया कर, दारिद्र्य को घर में बुलाते हो, इसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। जो हट्टे कट्टे और काम काज करने योग्य हैं, उन पर दया कर उन्हें विना मूल्य द्रव्य देने से क्या लाभ? तुम्हारी गाँठ में तो फूटी कौड़ी भी नहीं और तुम दूसरे का धन कौड़ियो के मोल दया-पर-वश हो बहाये जाते हो! मैं बालबच्चो सहित कड़ाके कर कर के दिन बिताती हूँ। ऋणी होने के कारण मैं मारे लज्जा के अपना मुँह लोगों को नहीं दिखला सकती। आप इस ओर ध्यान क्यो नहीं देते और हम लोगो पर दया क्यो नहीं करते? जो हुआ सो हुआ। मैं ऋण लेकर, कुछ द्रव्य एकत्र किये देती हूँ, तुम उससे फिर व्यवसाय करो। किन्तु इस बार दया-पर-वश हो इस धन को भी न उड़ा देना, मैंने अपने लोगों के मङ्गल के लिये ही ये बातें कहीं हैं।"

स्त्री के उपदेश वाक्य सुन और धन लेकर, तुकाराम घर से बाहर निकले। उसी समय तुकाराम के ग्राम वाले व्यवसाय के लिये वालेघाट नामक ग्राम की ओर जा रहे थे। तुकाराम जी उनके साथ हो लिये और वहाँ उन्होंने अनेक द्रव्य बेचे और

और 'सन्तविजय'। ये पद्यमय ग्रन्थ हैं। इन्हीं ग्रन्थों से तुकाराम की जीवनी संग्रह की गयी है।

मोल लिये। अनन्तर घर को ओर लौटे। इस वार तुकाराम को कुछ लाभ हुआ था, किन्तु वह लाभ का धन तुकाराम के घर तक न पहुँच पाया। घर आते समय, रास्ते में तुकाराम को एक ब्राह्मण दिखलायी पड़ा, जिसे उसके ऋणदाता, ऋण चुकाने के लिये अपमानित कर मार पीट रहे थे। उसकी कातर वाणी सुन, तुकाराम का हृदय दया से आर्द्र हो उठा और उन्होंने ब्राह्मण के निकट जाकर उसका सारा हाल सुना। उसकी दुःख कहानी सुन तुकाराम से न रहा गया और उनके पास जो द्रव्य था वह ब्राह्मण को दे डाला और अपनी दुर्व्यवस्था पर तिल भर भी दृष्टिपात न किया। ब्राह्मण ऋण से छुटकारा पा कर, अपने घर गया और तुकाराम रीते हाथ घर पहुँचे। उनके घर पहुँचने के पहिले ही इस घटना का हाल जीजा बाई को विदित हो गया था। स्वामी को रीते हाथ आते देख, जीजा बाई के क्रोध की सीमा न रही। धनहीन दरिद्र को वैसे ही अच्छे बुरे का ज्ञान नहीं रहता, तिस पर स्वामी का ऐसा व्यवहार देख, जीजा बाई ने क्रोध में भर तुकाराम को अनेक गालियाँ दीं। घर में कोलाहल सुन अड़ोसी पड़ोसी तुकाराम के घर में एकत्र हो गये। तब जीजा बाई, तुकाराम को दिखला कर कहने लगी—"जान पड़ता है, पूर्वजन्म का यह मूर्ख हमारा वैरी है और हमें दुःख देने के लिये ही इस जन्म में यह हमारा पति हुआ है। अब हम किस प्रकार पेट पालें? बाल बच्चे जिस समय भूख लगने पर, कातर क्रन्दन करते हुए भोजन माँगेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या दूँगी? मैं मर जाती तो ही अच्छा था। न जाने कब मुझे इस मूर्ख से छुटकारा मिलेगा। विट्ठल! तुमको भी धिक्कार है।" पड़ोसियों में से एक स्त्री ने जीजा बाई से कहा—"बहिन! तुम अपने स्वामी को मूर्ख बतला कर, स्वयं क्यों ज्ञानहीना बनती हो? पति-

भक्ति करना तो जहाँ तहाँ रहा ; पति को गालियाँ तो मत दो।" इस पर जीजा बाई ने कहा—"बहिन ! बिना काम पड़े कोई किसी का हाल नहीं जान सकता।"

तुकाराम की यह दशा देख, उनके भाई कन्हैया ने हिस्सा बाँट किया। पैतृक सम्पत्ति बाँटते समय तुकाराम को कुछ दस्तावेज़ें मिलीं। तुकाराम चाहते तो उन दस्तावेज़ों के रुपये वसूल कर सकते थे, पर उन्होंने इस झंझट में पड़ना अच्छा न समझ उन दस्तावेज़ों को पानी में डुबो दिया। जीजाबाई को जब यह हाल मालूम हुआ, तब वह अत्यन्त कुपित हुई और उसनेस्वामी का फिर तिरस्कार किया। स्त्री की भर्त्सना सुन कोमलमति बालकों की तरह तुकाराम ने हँस कर उस बात को उड़ा दिया। फिर स्त्री से कुछ कहे सुने बिना ही, वे आलन्दि नामक स्थान की ओर चल दिये। आलन्दि, देहुग्राम से एक कोस के अन्तर पर इन्द्रायणी नदी के तट पर अवस्थित है। इसी स्थान पर ६०० वर्ष पूर्व ज्ञानदेव नामक एक साधु रहा करते थे। वहीं उनकी समाधि भी थी। ज्ञानदेव का साधना-स्थान तुकाराम को अच्छा प्रतीत हुआ। जिस समय तुकाराम उस स्थान में विचरण कर रहे थे, उसी समय एक किसान खेत की रखवाली के लिये एक मनुष्य को खोजता हुआ वहाँ जा निकला और तुकाराम से बातचीत की। तुकाराम ने सोचा बिना मूल धन लगाये जो मिले वही लाभ। यह सोच वे किसान की बात पर राज़ी हो गये। किसान ने पारिश्रमिक स्वरूप आध मन नाज देने की प्रतिज्ञा की। तुकाराम खेत की रखवाली के लिये, बीच खेत में मचान के ऊपर बैठ खेत ताकने लगे। तुकाराम निर्जन स्थान में बैठ, बड़े प्रसन्न हुए और सहर्ष विट्ठलनाथ का नाम कीर्त्तन करने लगे। उधर अनेक पक्षी एवं पशु आ कर खेत चरने लगे। एक दिन किसान ने आकर यह लीला देखी और वह

तुकाराम पर बहुत क्रुद्ध हुआ। किसान को कुपित होते देख, तुकाराम ने उससे कहा—"इन क्षुधातुर प्राणियों को तुम्हीं बतलाओ मैं क्योंकर हटा सकता था?" किसान ने क्षति पूर्ण करने के लिये स्थानीय पंचायत में जा कर फरियाद की। पंचायत ने निर्णय किया कि अन्य वर्षों में जितना अन्न उस खेत में उत्पन्न होता था, उससे जितना अन्न कम उतरे, उसकी घटी तुकाराम दे। अनन्तर नाज काटने पर किसान ने देखा कि उसके खेत में अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष अधिक नाज उत्पन्न हुआ है, किन्तु किसान ने यह बात किसी से नहीं कही। तुकाराम के किसी पड़ोसी को यह हाल मालूम हो गया और उसने सारा हाल पंचों से कह दिया। पंचों ने विचार कर, निर्णय किया कि खेत में जितना नाज अधिक उत्पन्न हुआ है, वह तुकाराम को मिले। तुकाराम बहुत सा नाज पा कर और उसे बेच कर घर गये और उस धन से अपनी लड़कियों के विवाह किये।

तुकाराम के तीन कन्या और दो पुत्र थे, कन्याओं के नाम थे—गङ्गा, भागीरथी और काशी। पुत्रों के नाम थे शम्भू और विट्ठल। प्रथम कन्या को विवाह योग्य देख जीजा बाई ने तुकाराम को बहुत तंग कर डाला था। तुकाराम विकल हो एक दिन शुभ मुहूर्त्त में वर खोजने के लिये घर से निकले। वे एक पास के ग्राम में पहुँचे और वहाँ जा कर देखा कि, कई एक बालक खेल रहे हैं। उनमें उन्होंने स्वजातीय तीन बालकों को पसंद किया और उन्हींको घर लिवा ला कर अपनी तीनों बेटियों को उनके साथ ब्याह दिया। ग्रामवासी, तुकाराम का स्वभाव जानते थे, अतः इस कार्य में किसी ने बाधा न डाली।

एक दिन तुकाराम गन्ने का एक गट्ठा सिर पर रख कर घर की ओर जा रहे थे। रास्ते में उन्हें खेलते हुए बालक मिले।

बालको ने एक गन्ना माँगा । तुकाराम भला बालकों की बात क्यों टालने लगे? देखते देखते बालकों को उन्होंने सब गन्ने बाँट दिये। उनके पास केवल एक गन्ना रह गया। उसे लिये हुए जब वे घर पहुँचे; तब रास्ते की घटना का वृत्तान्त सुन जीजा बाई ने तुकाराम की पीठ पर उस गन्ने के दो टुकडे कर डाले। स्त्री के हाथ से मार खा कर, तुकाराम दुःखी न हुए; किन्तु हँस कर कहने लगे—"सहधर्मिणि! यही तो वास्तविक धर्म है! मैंने तुम्हें एक गन्ना दिया था। उसके तुमने दो टुकडे कर, उनमें से एक मुझे दिया।" इसी प्रकार तुकाराम को अनेक बार स्त्री की गालियाँ एवं मार खानी पड़ी थी, किन्तु वे अम्लानवदन सारे अत्याचार सह लिया करते थे।

रुक्मी बाई के परलोकगत होने के कुछ ही दिनो बाद, तुकाराम के ज्येष्ठ पुत्र शम्भू जी की मृत्यु हुई । तुकाराम शम्भू को बहुत प्यार करते थे । उसकी मृत्यु से तुकाराम के मन पर बड़ी कड़ी चोट लगी। किन्तु साथ ही इस घटना से उनके मन में ज्ञान का सञ्चार हुआ। उन्होंने सोचा—"संसार में सुख नहीं है। संसार में रह कर, हम सुख भोगें—इस कामना के लिये हमने अनेक यत्न किये, किन्तु सब व्यर्थ हुए। कोयले को जितना अधिक घिसो, उतनी ही अधिक उसके भीतर से कालौंच निकलती है। इसी प्रकार संसार में जो जितना डूबता है, उसे उतना ही अधिक दुःख सहना पड़ता है। धन, रत्न आदि सारे पदार्थ सारशून्य हैं। तब हम क्यों, इस संसार में पडे रहें?" यह सोच तुकाराम विरक्त हो गये।

तुकाराम घर छोड़ कर एक पर्वत पर चले गये! वहाँ बैठ कर, उन्होने अपने कुल एवं इष्टदेव विठ्ठलनाथ जी के चरणों में अपना मन लगाया। तुकाराम भगवद्सेवा तो करते थे, किन्तु धर्म

में उनका मन स्थिर नहीं हो पाया था। एक दिन तुकाराम ने स्वप्न में देखा कि, वे भीमा नदी से स्नान करके लौटे चले आते हैं। रास्ते में उन्हें एक वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसने तुकाराम के मस्तक पर हाथ रख कर, आशीर्वाद दिया। अनन्तर तुकाराम ने उससे घृत माँगा। इस पर वृद्ध ब्राह्मण ने अपना नाम बावा जी और अपने दीक्षा गुरुओं के नाम राघव चैतन्य और केशव चैतन्य बतलाये। अनन्तर उस ब्राह्मण ने "रामकृष्ण हरि"—यह मूल मंत्र उपदेश किया। फिर वह किधर चला गया, यह तुकाराम स्थिर न कर सके। तुकाराम स्वप्न में दीक्षा पा कर. पाण्डुरङ्ग देव[1] की शरण मे गये।

तुकाराम अविचलित अध्यवसाय के प्रभाव से कुछ ही दिनों में सुपण्डितों की श्रेणी में गिने जाने लगे। महाराष्ट्रीय साधुओं में नाम देव नामक एक प्रसिद्ध साधू हो गये हैं। उनके बनाये अभङ्ग छन्द के अनेक पद्य हैं। तुकाराम इन्हीं पद्यों को गाने लगे। इन भजनों को गाते गाते उनका इतना अभ्यास बढ़ गया कि वे स्वयं अभङ्ग छन्द रचने लगे। पद्यरचना करते करते उनमें इतनी क्षमता बढ़ गयी कि, उनके मुख से अनर्गल पदावली निकलने लगी। जिस समय वे हरिकीर्त्तन करते, उस समय श्रोतागण स्पन्दहीन जड़ पदार्थ की तरह हो जाते थे। उनके मुख से हरिकीर्त्तन और उपदेश सुनने के लिये सहस्रों नरनारी जाते थे। वे शूद्र के घर जन्मे थे, किन्तु लोग उनका ब्राह्मणों जैसा सम्मान करते थे।

तुकाराम का यश-सौरभ चारों ओर परिव्याप्त होते देख संवाजी, रामेश्वर भट्ट आदि परोत्कर्ष-असहिष्णु लोग अनेक प्रकार से

---

[1]दक्षिण में श्रीकृष्ण का एक प्रसिद्ध नाम पाण्डुरङ्ग भी है। पाण्डरपुर में पाण्डुरङ्ग विग्रह विशेष प्रसिद्ध है।

उनको यातना देने लगे। किन्तु अन्त में तुकाराम की दया, दाक्षिण्य, विनीत-भाव, सुमिष्ट बातचीत आदि अनेक गुणों को देख वे लोग आश्चर्य्यान्वित हुए और अन्य लोगों की तरह वे भी तुकाराम को भक्तिभाव से देखने लगे।

पूनानगर से कुछ दूर उत्तर पूर्व की ओर भागोलि नामक एक ग्राम है। उसमें रामेश्वर भट्ट वास करते थे। उन्होंने तुकाराम से पुकार कर कहा—"तुम शूद्र होकर वेद की व्याख्या क्यों करते हो? शूद्र के लिये यह कार्य महा-पाप-जनक है। मैं निषेध करता हूँ कि, तुम वेदव्याख्या और अभङ्ग की रचना करना छोड़ दो। तुमने अभी तक जितने अभङ्ग बनाये हैं; उन सब को तुम जल में डुबो दो।" भट्ट की बातें सुन तुकाराम ने कहा—"मैं पाण्डुरङ्ग के आदेशानुसार ऐसा करता हूँ।" भट्ट को तुकाराम के इस उत्तर पर सन्तोष न हुआ और उन्होंने तुकाराम से अभङ्गो को जल में डुबो देने के लिये फिर कहा। ब्राह्मण की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये, यह सोच; तुकाराम ने अभङ्ग की पोथी को इन्द्रायणी नदी में डुबो दिया। पोथी को जल में डुबोने के पहिले, पोथी के दोनों किनारों को छोटे पत्थरों से दबा दिया और फिर उस पर पतला कपड़ा लपेट दिया। पोथी के डुबोए जाने पर ग्रामवासी बहुत दुःखी हुए। तेरह दिन बाद वह पोथी अपने आप उतराने लगी और एक ग्रामवासी ने उसे जल से निकाल कर, तुकाराम को दी। यह अलौकिक घटना देख कर, सब लोग तुकाराम को देवता समझने लगे।

इतिहास-प्रेमियों से शिवा जी का नाम छिपा नहीं है। शिवा जी केवल युद्ध-विद्या-प्रेमी थे—यह बात नहीं है। वे धर्मप्रेमी भी थे। तुकाराम की गुणगरिमा जब शिवा जी के कानों तक पहुँची; तब उनको अपनी राजधानी में लिवा लाने के लिये शिवा जी ने, घोड़ा,

नौकर एवं राजछत्र भेजे। किन्तु तुकाराम ने निमंत्रण अस्वीकार कर नीचे लिखा पत्र भेजाः—

"महाराज! आप हमें क्यों दारुण परीक्षा में डालते हैं? हमारी वासना तो यह है कि, निःसङ्ग होकर, संसार से दूर रहें; निर्जन स्थान में रह कर, सुख सम्भोग करें, मौनी होकर रहें एवं ऐश्वर्य मान सम्भ्रम को वमनोद्गीर्ण खाद्य पदार्थ जैसा समझें; किन्तु हे पाण्डारिनाथ! हमारी इच्छा से क्या हो सकता है! सब तुम्हारे अधीन है। हे राजन्! तुम्हारे पास आने से हमें क्या लाभ होगा? हमें खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है; तो इसके लिये भिक्षा वृत्ति का प्रशस्त पथ बना हुआ है। जब हमें वस्त्र की आवश्यकता होती है; तब रास्ते में पड़े हुए चिथड़े हमारे अभाव को दूर कर देते हैं। राजन्! वासना जीवन को नष्ट करने वाली है। महाराज हम नतशिर हो कर आपको यह पत्र लिखते हैं।"

महात्मा शिवाजी ने तुकाराम के पत्र को पढ़ कर कहा था—"जिसने ईश्वर का प्रसाद भोग किया है, उसके निकट राजप्रसाद कण्टकाकीर्ण वन स्वरूप है।"

तुकाराम साधन करते करते ऐसे सिद्ध हो गये कि, जिस समय लोटा-गोभा नामक ग्राम में कीर्त्तन कर रहे थे, उस समय एक स्त्री अपने पुत्र का शव ले कर उनके पास गयी और उनसे बोली—"महाशय! यदि आप सच्चे विष्णुभक्त होंगे, तो निश्चय ही आप मेरे पुत्र को जीवित कर देंगे; नहीं तो सब लोग आपको भाँड समझेंगे।" उस रमणी की ये बातें सुन, तुकाराम ने मन ही मन विचारा कि, इस स्त्री का विश्वास है कि ईश्वर की भक्तिमात्र से मनुष्य को जीवन-दान करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है; किन्तु यह क्षमता तो मुझमें नहीं है। यह सोच उन्होंने भगवान् की

स्तुति की। कहा जाता है कि, भगवान् की स्तुति करते ही मरा हुआ बालक जी उठा।

तुकाराम का जीवन किस प्रकार और कहाँ शेष हुआ, इसका यथार्थ वृत्तान्त नहीं मिलता। १५७१ शाके के फाल्गुण मास में कृष्णा द्वितीया को प्रातःकाल तुकाराम अन्तर्धान हो गये। इसके बाद फिर उन्हें किसी ने नहीं देखा।

तुकाराम के अन्तर्धान होने पर, उनका पुत्र विठोरा या विट्ठल, शिवाजी से मिला और देहु ग्राम में विट्ठलनाथ का मन्दिर बनवा देने की प्रार्थना की। शिवा जी ने तुकाराम के पुत्र के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया और उसके कथनानुसार देहु ग्राम में विट्ठलनाथ का एक मन्दिर बनवा दिया और भगवान् की सेवा के लिये तीन ग्राम मन्दिर में लगा दिये।

तुकाराम शूद्र के घर में उत्पन्न हुए थे और भगवद्भक्ति में चूर थे।

जाति पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजे सो हरि को होई॥

भेजा पर फल कुछ भी न हुआ। वे एक दिन किसी कार्य के लिये बाहिर गये। उनकी अनुपस्थिति में उसकी ससुराल से रत्नावली को ले जाने के लिये उसका भाई आया और रत्नावली को ले गया। घर लौटने पर स्त्री को न देख, तुलसीदास सीधे ससुराल की ओर चल दिये। रास्ते में यह भी न विचारा कि, मैं किस प्रकार कहाँ जा रहा हूँ। जब ससुराल में पहुँचे, तब उनको आया देख, उनकी स्त्री ने कुछ क्षुब्ध हो कर कहा :—

दोहा

लाज न लागत आप कों, दौरे आयहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम, तासों जैसी प्रीत।
तैसी जो श्रीराम में, होत न तौ भव-भीत॥

प्रियतमा के ऐसे ज्ञानोद्दीपक वाक्य सुन कर, तुलसीदास जी के ज्ञाननेत्र खुले। वे ससुराल को छोड़, चल दिये और काशी पहुँचे। वहाँ वे सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म कर और श्रीरामचन्द्र जी के चरणकमलों का ध्यान कर के, समय बिताने लगे। तुलसीदास जी शौच के लिये नित्य बस्ती के बाहर जाया करते थे और लौटते समय लोटे का बचा हुआ जल मार्ग में एक पेड़ की जड़ में डाल दिया करते थे। उस पेड़ पर एक पिशाच रहता था। उस जल से तृप्त हो कर उसने तुलसीदास जी से कहा—'वर माँगो।' तुलसीदास ने कहा हम यही माँगते हैं कि, हमें तुम श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करा दो। यह सुन पिशाच ने कहा 'इतनी सामर्थ्य तो मुझमें नहीं है ; परन्तु इसका उपाय मैं तुम्हें बतलाये देता हूँ। तुम कर्णघंटा नामक घाट पर अमुक ब्राह्मण के घर जाओ। वहाँ रामायण की कथा होती है।

वहां बहुत मैला कुचैला कुरूप वाला एक मनुष्य कथा सुनने के लिये जाता है। वह सब से पहिले वहां आता है और सब से पीछे जाता है। वे साक्षात् हनुमान जी हैं। उन्हींके चरण पकड़ कर विनती करो। यदि उनकी कृपा हुई, तो तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। तुलसीदास जी ने ऐसा ही किया। हनुमान जी ने प्रसन्न हो, उन्हें मंत्र दिया और उनके आदेशानुसार वे चित्रकूट गये। वहां छः मास पर्य्यन्त उन्होने तप किया। तप के प्रभाव से वे सिद्ध हो गये।

एक दिन तुलसीदास जी तुलसी फूल तोड़ने के लिये वन की ओर गये। वहाँ उन्होंने देखा कि, एक हिरन के पीछे परम मनोहर, श्याम, गौर बालकों की एक जोड़ी धनुष और बाण लिये जा रही है। तुलसीदास जी यह देखते ही चकित हो गये। उस समय तो वे उन्हें न पहचान पाये, किन्तु पीछे से दैव साहाय्य से उन्हें विदित हुआ कि, भगवान् ने उन पर कृपा की थी और उन्हें दर्शन दे कर कृतार्थ करने के लिये वे उस रूप में प्रकट हुए थे।

तुलसीदास जी महामंत्र द्वारा सिद्ध हो कर, श्रीवृन्दावन गये। वहां "सीताराम" के बदले "राधाकृष्ण" का नाम सुन, वे अपने घर से बाहिर न निकले। एक दिन एक मनुष्य आग्रह-पूर्वक उन्हें मदनगोपाल जी के मन्दिर में ले गया और बोला, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन करो। तब तुलसीदास जी ने श्यामसुन्दर के हाथ में वंशी देख कर कहाः—

दोहा

कहा कहों छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष बान लेउ हाथ॥

भक्तवत्सल भगवान् की वेद विदित इह गाथ।
मुरली मुकुट दुराय के नाथ भये रघुनाथ॥

तुलसीदास वृन्दावन में कुछ दिनों रह कर अयोध्या गये। कहते हैं वहीं इन्होने प्रसिद्ध ग्रन्थ रामायण की रचना की। रामायण की रचना का समय इस प्रकार उन्होंने निर्दिष्ट किया है:—

संवत् सोलह सौ इकतीसा।
करौ कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौम बार मधु मासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

अयोध्या से तुलसीदास जी काशी गये। उसी समय एक ब्रह्महत्यारा भी काशी में पहुँचा। वह ब्रह्म-हत्याकारी सर्वदा ही पाप की विभीषिका की मूर्ति देखा करता और क्षण भर के लिये भी उसका मन शान्त नहीं होता था। इस भय से छुटकारा पाने के लिये वह काशी गया। वहाँ के पण्डितो से उसने सारा हाल कहा। पण्डितो ने उसे सूखा जवाब दिया और कहा-" इसका कुछ भी उपाय नहीं।" हत्याकारी के मन में घृणा और दुःख उपजा और उसने गङ्गा में डूब कर प्राण विसर्जन करना चाहा। इतने में उसे तुलसीदास जी मिले। उन्होंने उस हत्यारे को " राम " नाम का जप करने का उपदेश दिया। जब राम नाम जपते जपते उसे कई मास बीत गये, तब तुलसीदास ने उससे कहा-" तुम्हारा पाप छूट गया। आओ हम दोनो एक साथ भोजन करें।" काशी के प्रधान प्रधान पण्डित ब्रह्महत्यारे के साथ तुलसीदास जी को भोजन करते देख असन्तुष्ट हुए और उनसे इसका कारण पूँछा। तुलसीदास जी ने कहा-"राम नाम का जप करने से

यह मनुष्य ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो गया। आप लोग चाहें तो इसकी परीक्षा कर लें।" इस पर पण्डितों ने परस्पर विचार करके कहा-"यदि विश्वेश्वर का पत्थर निर्मित नादिया इसके हाथ का छुआ पदार्थ खाले, तो हम जाने कि, यह ब्रह्महत्या के पाप से छूट गया।" तुलसीदास इस पर राज़ी हो गये और उस मनुष्य एवं पण्डित मण्डली के साथ विश्वेश्वर के मन्दिर में पहुँचे। हत्याकारी के हाथ से पत्थर के नादिया के मुख में खाद्य पदार्थ रखवाया गया। नादिया ने जीवित बैल की तरह सारा खाद्य पदार्थ खा डाला। इस घटना से काशी वाले तुलसीदास जी को ईश्वर का अंश समझने लगे।

तुलसीदास के भक्तों ने उनके व्यवहार के लिये सोने चाँदी के कुछ वर्त्तन और उनकी उपास्य मूर्ति के लिये कतिपय आभूषण भेंट किये। रात को एक दिन एक चोर ने उनको चुराने के लिये तुलसीदास जी के घर में प्रवेश किया। चोर ने तुलसीदास जी को ध्यानमग्न देख कर, आभूषणादि उठाने के लिये ज्यों ही हाथ पसारा त्यों ही उसने देखा कि रूप लावण्य सम्पन्न एक पुरुष हाथ में धनुष बाण लिये उसकी ओर देख रहा है। उसे देख चोर उल्टे पैरों वहाँ से भाग खड़ा हुआ। लोभ के वशीभूत हो चोर फिर वहाँ गया। किन्तु इस वार भी उसे धनुर्बाणधारी पुरुष के दर्शन हुए। तब वह चोर तुलसीदास जी के पास जाकर कहने लगा-"साधू बाबा! रात को जो मनुष्य तुम्हारे घर का पहरा देता था, वह कहाँ है? उससे मुझे एक बड़ा ज़रूरी काम है।" इस पर तुलसीदास जी ने कहा-"अरे भाई! यहाँ कौन पहरा देता है; मुझे नहीं मालूम। उसका हुलिया तो बतला।" नवदूर्व्वादल श्याम कान्ति धनुर्बाणधारी पुरुष का वर्णन सुनते ही, तुलसीदास समझ गये कि, चोर जिसे पहरुआ

कहता है, वे स्वयं श्रीरामचन्द्र जी महाराज हैं। सामान्य धन सम्पत्ति के लिये उनके इष्टदेव को रात भर जागना पड़ता है, यह सोच तुलसीदास जी बहुत लज्जित हुए और उसी क्षण सारे बर्तन एवं आभूषण उस चोर को तथा अन्य दीन दुःखियों को दे डाले। फिर तुलसीदास जी ने चोर से कहा—"हे चोर! तुम बड़े भाग्यवान् हो; जब बिना साधन के तुम्हें भगवान् के दर्शन हो गये, तब तुमसे बढ कर भाग्यवान् और कौन हो सकता है?" यह सुन चोर ने तुलसीदास जी के दिये हुए द्रव्य को लेना अस्वीकार किया और अपने पास जो द्रव्य था उसे दीन दुःखियों को दे, वह तुलसीदास जी का शिष्य हो गया।

एक दिन एक युवती ब्राह्मणी अपने पति की मृतदेह के साथ सती होने के लिये जा रही थी। रास्ते में तुलसीदास जी को देख उसने भूमिष्ठ हो उन्हें प्रणाम किया। तुलसीदास जी को यह नहीं मालूम था कि यह विधवा है; अतः उन्होंने आशीर्वाद देते हुए उससे कहा—"तुम सौभाग्यशालिनी होकर, पति के साथ कालयापन करो।" यह सुन सती होने को उद्यत रमणी के साथियो ने कहा—"बाबा जी! यह तो अपने पति के साथ सती होने के लिये श्मशान की ओर जा रही है, यह किस प्रकार पति के साथ कालयापन कर सकती है।" यह सुन तुलसीदास जी कुछ विस्मित हुए और उन लोगो के साथ श्मशान तक गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि उस रमणी के पति का शब धरती पर वस्त्र से ढका हुआ पड़ा है। तुलसीदास जी ने वस्त्र को उतार कर फेंक दिया और शब के मुख पर हाथ फेर कर उसे जीवित कर दिया। मरा हुआ मनुष्य सोते हुए मनुष्य की तरह उठ खड़ा हुआ। सब उपस्थित लोग विस्मय-सागर में निमग्न हो, तुलसीदास जी के चरणो में लोटने लगे।

तुलसीदास जी की अलौकिक शक्ति का वृत्तान्त सुन तत्कालीन दिल्लीश्वर ने उनको अपने दरबार में बुलवाया। जब वे दरबार में गये, तब बादशाह ने उनसे कोई करामात दिखलाने का अनुरोध किया। तब तुलसीदास जी ने कहा—"जहाँपनाह! मैं तो अति सामान्य मनुष्य हूँ, मैं भला आपको क्या करामात दिखला सकता हूँ। मैं तो अपने इष्टदेव का नाम गाया करता हूँ। मुझमें करामात दिखलाने की शक्ति नहीं है।" बादशाह ने समझा तुलसीदास मेरा अपमान कर रहा है, अतः बादशाह ने तुलसीदास को बंदी बना कर, कारागार में डाल दिया। तब तुलसीदास जी ने, हनुमान जी की स्तुति करते हुए कहाः—

तोहि न ऐसी बूझिये हनुमान हठीले।
साहब काहु न राम से तुमसे न वसीले॥

यह सुन हनुमान जी ने अपनी वानरी सेना से दिल्ली का कोट ध्वस करवाना आरम्भ किया और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह जाकर तुलसीदास जी के चरणों में गिरा और बोला— "मेरा अपराध क्षमा कीजिये।" तब वानरों का उत्पात घटा।

तुलसीदास जी केवल सिद्ध ही न थे उनकी रचना शक्ति भी बड़ी अद्भुत थी। उनके नाम से २५ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम ये हैं:—

(१) रामचरितमानस (२) कवितावली रामायण
(३) गीतावली रामायण (४) छन्दावली रामायण
(५) बरवै रामायण (६) पद्मावली रामायण
(७) कुण्डलिया रामायण (८) छप्पय रामायण
(९) कड़खा रामायण (१०) झूलना रामायण
(११) रोला रामायण (१२) रामाज्ञा
(१३) रामलला नहछू (१४) जानकी मङ्गल

(१५) पार्वती मङ्गल (१४) कृष्ण गीतावली
(१७) हनुमान बाहुक (१८) सङ्कटमोचन
(१९) हनुमान चालीसा (२०) रामसलाका
(२१) राम सतसई (२२) वैराग्यसन्दीपिनी
(२३) विनयपत्रिका (२४) कलिधर्म्मकर्म निरूपण
(२५) दोहावली

इन सब पुस्तकों में से तुलसीदास जी की रामायण ही का भारतवर्ष भर में बड़ा आदर और प्रचार है। इसके आज तक न जाने कितने संस्करण और कितने प्रेसों में निकले हैं। जिसने रामायण छापी उसीको बिकी।

संवत् १६८० के श्रावण मास में शुक्ला सप्तमी के दिन काशी में तुलसीदास जी ने मानवी लीला सम्बरण की। [1]असी घाट के ऊपर लोलार्ककुण्ड के पास तुलसीदास जी की कुटी अभी तक विद्यमान है।

पहिले समय में जीवनचरित लिखने की पद्धति विद्यमान न थी। इस अभाव को दूर करने के लिये पीछे के लोगो ने यत्न किया और अभी कर रहे हैं। यही कारण है कि, तुलसीदास जी जैसे महात्माओं की जीवनी क्रमागत उपलब्ध नहीं होती।

॥ इति ॥

दोहा

१ संवत सोलह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजो सरीर॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahabad